डी.सी.सी.टी. 01

कोटा खुला विश्वविद्यालय

डिप्लोमा कोर्स इन कल्चर एण्ड टूरिज्म
संस्कृति एवं पर्यटन में डिप्लोमा कोर्स

Outline of the Traditions and Culture of the People of India
"भारत के निवासियों की परम्पराओं एवं संस्कृति की एक रूपरेखा"

डी.सी.सी.टी - 1

Diploma Course in Culture and Tourism 5

डिप्लोमा इन कल्चर एण्ड टूरिज्म
संस्कृति एवं पर्यटन में डिप्लोमा कोर्स

पाठ्यक्रम-प्रथम

खण्ड- पंचम

5 "भारत के निवासियों की परम्पराओं एवं संस्कृति की एक रूपरेखा"

इकाई 29 भारत मे मेले एवं पर्व	5–22
इकाई 30 भारतीय लोक कलाएँ एवं लोक स्मारक	23–39
इकाई 31 भारत मे संगीत एवं नृत्य(ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन)	40–56
इकाई 32 भारतीय रंगमंच(सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य)	57–70
इकाई 33 भारतीय रंगमंच की लोकधर्मी परम्पराएँ	71–92
इकाई 34 युग युगीन भारतीय स्थापत्य	93–113
इकाई 35 चित्रकला (भारतीय सांस्कृतिक इतिहास एवं परम्परा के संदर्भ में)	114–133
इकाई 36 योग-एक सांस्कृतिक अध्ययन	134–145

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

(1) प्रो. बी.एस. शर्मा
कुलपति, कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

(2) **डॉ. आर.के. सक्सैना**
रिटायर्ड अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
एम.एल. सुखड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

(3) प्रो. रविन्द्र कुमार
निदेशक, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लायब्रेरी,
तीन मूर्ति भवन, नई दिल्ली

(4) प्रो. एस.एन. दूबे
इतिहास एवं संस्कृति विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

(5) प्रो. जी.एन. शर्मा
रिटायर्ड प्रोफेसर, इतिहास व संस्कृति विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

(6) पदमश्री (श्रीमती) लक्ष्मी कुमारी चूंडावत
प्रसिद्ध साहित्यकार एवं मनीषी,
बनीपार्क, जयपुर

(7) प्रो. एम.वी. माथुर
पूर्व कुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

(8) डॉ. रीमा हूजा
एसोसियेट प्रोफेसर, भारतीय संस्कृति एवं परम्परा विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

(9) प्रो. एम.एस. जैन
रिटायर्ड प्रोफेसर, इतिहास एवं संस्कृति विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

(10) प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा (संयोजक)
अध्यक्ष,भारतीय संस्कृति एवं परम्परा विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

(11) प्रो. दिलबाग सिंह
इतिहास विभाग,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माणदल

(1) डॉ. रीमा हूजा
एसोसियेट प्रोफेसर, भारतीय संस्कृति एवं परम्परा विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

(2) डॉ. वी.एस. भार्गव
रिटायर्ड प्रिन्सिपल, कॉलेज शिक्षा विभाग, जयपुर

(3) डॉ. अनिल गुप्ता
व्याख्याता, ड्राइंग एण्ड पेण्टिंग विभाग,
राजकीय महाविद्यालय, कोटा

(4) डॉ. हेमलता कुमावत
विभागाध्यक्ष, चित्रकला विभाग,
राजकीय महविद्यालय, बून्दी

(5) डॉ. (श्रीमती) निशि माथुर
विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग जा. दे. ब.
कन्या महाविद्यालय, कोटा

(6) प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा
अध्यक्ष, भारतीय संस्कृति एवं परम्परा विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

(7) डॉ. बसन्त जोतली,
संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

(8) डॉ. अनाम जैतली
एसोसियेट प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग,
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

(9) छायाकार
किशोर पारीक, जयपुर

संपादन एवं संशोधन

प्रो. जी. एस. एल. देवड़ा
अध्यक्ष, भारतीय संस्कृति एवं परम्परा विभाग, कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सामग्री उत्पादन एवं वितरण

निदेशक
सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अगस्त, 1999 © कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सर्वाधिकार सुरक्षित। *इस पाठ्यक्रम का कोई भी अंश कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा की लिखित अनुमति प्रपट किए बिना या मिमियोग्राफी अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करना वर्जित है।*

कोटा खुला विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कुलसचिव, कोटा खुला विश्वविद्यालय कोटा,रावतभाटा रोड कोटा से प्राप्त की जा सकती है।

कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा द्वारा प्रकाशित

इकाई 29 "भारत में मेले और पर्व"

इकाई संरचना

29.1 उद्देश्य

29.2 प्रस्तावना

29.3 भारत के मुख्य मेले और पर्व

29.4 प्रादेशिक (Regional) मेले और पर्व : उत्तरी भारत

29.5 प्रादेशिक मेले और पर्व : मध्य भारत और पश्चिमी भारत

29.6 प्रादेशिक मेले और पर्व : पूर्वी और उत्तर-पूर्वी भारत

29.7 प्रादेशिक मेले और पर्व : दक्षिण (Deccan) और दक्षिण भारत

29.8 इकाई सारांश

29.1 उद्देश्य

मेले और पर्व सामाजिक क्रिया-कलाप का एक प्रमुख अंग हैं । इन्हें सारे विश्व में विविध तरीकों से मनाया जाता है । भारत में मेले और पर्व धार्मिक विश्वासों, लोक-वार्ता स्थानीय प्रथाओं, ऋतु-परिवर्तन, सस्यों (Harvests-फसलों) आदि से जुड़े हुए हैं । यही नहीं कि भारत के विभिन्न उत्सव अनेक धर्मो से जुड़े हुए हैं अपितु हमारी कई सांस्कृतिक परम्पराएँ उनको मनाने की रीतियों को भी प्रभावित करती हैं । कुछ पर्वोत्सव (Festival Celebration) सम्पूर्ण देश में समान हैं, जबकि अन्य किसी सम्प्रदाय अथवा समुदाय द्वारा मनाये जाते हैं । यह मेलों और पर्वों को स्थानीय पुट (Local flavor) प्रदान करता है । यह इकाई मुख्य अखिल भारतीय तथा प्रादेशिक मेलों और पर्वों पर केन्द्रित है ।

29.2 `प्रस्तावना

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ पायेंगे कि इन पर्वों एवं उत्सवों का हमारे सांस्कृतिक जीवन से कितना गहरा सम्बन्ध है तथा ये पर्व हमारी परम्परा को किस प्रकार समृद्धता व निरन्तरता प्रदान करते हैं । हमारी मिली-जुली संस्कृति के ये सभी दृढ़ स्तम्भ हैं ।

शब्द कोश को अनुसार पर्व का अर्थ निश्चित दिवस या समय है जो कि भोज और कभी-कभी उपवास (Feasting and Sometime fastings), अनुठानों (कर्मकाण्डों-Ceremonies) और अन्य अनुपलनों (Observances) से चिह्नित होता है । इस पद का उपयोग वर्षगाँठ (Anniversary) अथवा आवधिक स्मारक (Periodic Commemoration) के लिए भी होता है । किसी निश्चित स्थान पर क्रेताओं (Buyers) और विक्रेताओं (Sellers) के आवर्ती एकत्रीकरण (Periodic Gathering) के रूप में मेले को परिभाषित किया जा सकता है । भारत में परम्परागत मेले का स्थान प्राय: धार्मिक महत्व का होता है ।

मेले और पर्व को पृथक करना कठिन है । दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं । भारत में कई मेले (उत्सव) सामान्यत: धार्मिक स्थानों में अथवा धार्मिक अवसरों को मनाने के लिए आयोजित होते हैं । प्राय: लोग लम्बी दूरियों से निश्चित परम्परागत स्थल पर आते हैं । इसके उदाहरणों में गंगा सागर

(बंगाल) का तीर्थाटन (Pilgrimage) स्थल, कुरुक्षेत्र (हरियाणा), श्रद्धेय सूफी सन्तों की दरगाहों पर (जहां उन्हें दफनाया गया) वार्षिक अर्स (Urs), सिख, गुरुओं से सम्बन्धित स्थान सम्मिलित है । यहां पशुओं का क्रय-विक्रय और ग्रामीण खेल भी होते हैं ।

बड़ी संख्या में तीर्थयात्रियों, व्यापारियों और पर्यटकों को आकर्षित करने वाले परम्परागत मेलों में यमुना के तटों पर आगरा के निकट भक्तेश्वर मेला, दिल्ली से 60 किमी. गढमुक्तेश्वर मेला, बिहार में सोनपुर मेला जहाँ हाथियों का विक्रय इस अवसर में उत्कृष्ट रंगीनियाँ बढ़ाता है, हिमाचल प्रदेश में रामपुर-बश्शर का लैवी मेला आदि हैं । इसके अतिरिक्त हरिद्वार, उज्जैन, प्रयाग और नासिक मे हर 12 और 6 वर्षों बाद क्रमश: महाकुम्भ और अर्द्धकुम्भ के मेले लगते हैं । "जनजातीय प्रधान "मेलों" में माघ माह (जनवरी-फरवरी) में लगने वाला राजस्थान का बेणेश्वर मेला सम्मिलित है । अधिकाधिक लोगों के जीवन से संगीत, नृत्य, कला और हस्तकला को जोड़न के लिए, हाल के वर्षों में, कई सांस्कृतिक मेलों और पर्वों को समाविष्ट किया गया है । इसका एक उदाहरण मध्यप्रदेश का खजूराहों नृत्य पर्व है । यहां प्रसिद्ध खजूराहों मन्दिर परिसर के पृष्ठ पट पर जाने माने क्लासिकी भारतीय नर्तक-नर्तिकाएं अपनी अदाकारी करते हैं ।

हम राष्ट्रीय महत्व की घटनाओं यथा स्वतन्त्रता दिवस, गणतन्त्र दिवस और आधुनिक भारत के लिए योगदान करने वाले प्रसिद्ध लोगों की जयन्तियों एवं पुण्य तिथियों को भी चिन्हित करते हैं । दिवंगत राष्ट्रपति एवं विद्वान डॉ. एस. राधाकृष्णन की जयन्ती पर शिक्षक-दिवस (सितम्बर 5) एक ऐसा स्मारक है । इसी प्रकार शहीद दिवस (जनवरी 30) एक यादगार दिन है जिस दिन गाँधी जी की हत्या हुई थी । इस अवसर पर उन सभी को श्रद्धांजलि अर्पित की जाती है, जिन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के लिए बलिदान किया ।

29.3 भारत के मुख्य मेले एवं पर्व

नव वर्ष दिवस -जनवरी 1, यह अन्तर्राष्ट्रीय दिवस प्रमुख रूप से ईसाई समुदाय तथा नगरों और शहरों में रहने वालों द्वारा मनाया जाता है ।

मकर संक्रान्ति/पोंगल - जनवरी 14, यह उत्तरायण के आरम्भ अर्थात् सूर्य के उत्तरावस्थान (Northern Sojour) के वर्षार्द्ध (Half Year) को दर्शाता है । यह कर्नाटक और तमिलनाडू में त्रिदिवसीय पोंगल पर्व तथा आन्ध्र प्रेदश और उत्तरी भारत में मकर संक्राति के रूप में मनाया जाता है । अहमदाबाद और जयपुर शहरों में पंतग -उड़ाना इस पर्व की विशेषता है ।

मकर सक्रान्ति के साथ संपादित तीन दिवसीय पोंगल पर्व तमिलनाडु और आन्ध्रप्रदेश का सबसे बड़ा त्यौहार है । आन्ध्रप्रदेश में गृहस्थी अपने पुत्तलिका-संग्रहों (Doll-गुड़िया Collection) को सजाते हैं । प्रथम दिन भोगी पोंगल कहलाता है और यह कुटुम्ब दिवस होता है । सूर्य पोंगल, दूसरे दिन महिलायें पोंगल (दूध और गुड़ के साथ चावल का पकवान) बनाती है तथा सूर्य को अर्पित करती हैं । तीसरा दिन, मट्ट पोंगल (Mattu-Pongal) पशुधन के लिए समर्पित है । देवताओं को अर्पित पोंगल पशुओं (Mattu) को खिलाया जाता है । उनके सींगों पर पालिश की जाती है । उनकी गर्दन पर फूल लटकाये जाते हैं । पोंगल के रंगीन गोले पक्षियों के लिए छेड़े जाते हैं । मदुरई, तन्जावुर, त्रिचरापल्ली में एक पशु-खेल होता है । यह जिल्लीकट्ट (Jellikattu) कहलाता है । इसमें साँडों के सींगों पर द्रव्य के बण्डल

बांध दिये जाते हैं और युवक इनको छीनने के लिए प्रयास करते हैं । सामुदायिक भोज आयोजित किये जाते हैं ।

बसन्त पंचमी :-जनवरी/फरवरी, बसन्त पंचमी प्रमुख रूप से उत्तर भारत का बसन्तोत्सव है । पुष्पित सरसों के पीत वर्ण के लहलहाते खेतों का रंग ही इस पर्व का रंग है । इस उत्सव में मैदानी क्रीड़ायें (Field Sports) और पतंगबाजी (Kite flying) की स्पर्धायें होती हैं । कई लोग, इस दिन, ज्ञान और कला की देवी सरस्वती की पूजा करते हैं । बंगाल में इस उत्सव को वसन्त पंचमी /सरस्वती पूजा के रूप में मनाते हुए पुस्तकें और विद्या सम्बन्धी वस्तुएँ, सरस्वती की मूर्ति/चित्र के सम्मुख अर्पित की जाती हैं । तदोपरान्त इन मूर्तियों को जलूस के साथ पवित्र नदियों में ले जाया जाता है ।

शिवरात्रि :-फरवरी/मार्च, यह पर्व नव चन्द्र (प्रतिपदा शुक्ल) को अमावस्या में मनाया जाता है । शिवरात्रि शिव-पूजा के लिए समर्पित है । इस अवसर पर उपवास और अनुवर्त्ती (रात्रि-जागरण को श्लाघ्य (Meritorious) माना जाता है । ऐसा विश्वास है कि शिव-भक्त जन्म्-मरण-पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त हो जाता है। कई मन्दिरों में मेले जैसे दृश्य बन जाते हैं । जम्मू और कश्मीर में शिवरात्रि को हिरत (Herat) कहा जाता है । यहां शिवरात्रि का उत्सव 15 दिनों तक चलता है । तेरहवें दिन शिवरात्रि को हिरत (Herat) अथवा हर्च-त्रुहा (Herch-Truah) कहा जाता है । इस अवसर पर दिन में उपवास और संध्या में भैरव पूजा होती है । तदोपरान्त कुल भोज (Family Feast) होता है तथा अखरोट और मिठाइयाँ बांटी जाती है ।

होली :-फरवरी/मार्च, होली रंगों का त्यौहार है । इसमें एक दूसरे पर गुलाल लगाया जाता है तथा रंगीन पानी की बौछार की जाती है । प्राचीन काल में इस बसन्तोत्सव को मदन-उत्सव के रूप में जाना जाता था । होली के सम्बन्ध में एक कहानी दैत्य राज हिरण्यकश्यप के पुत्र प्रहलाद की है। हिरण्यकश्यप की माँग थी कि प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर के रूप में उसकी पूजा करे । जब हिरण्यकश्यप का अपना पुत्र प्रहलाद निरन्तर विष्णु पूजा करता रहा तो उसने प्रहलाद को उत्पीड़ित किया । अन्त में प्रहलाद की बुआ होलिका, जिसको अग्नि के प्रभाव से ईश्वरीय वरदान द्वारा निरापद कर दिया गया था, ने प्रहलाद को गोद में बिठाकर इस आशय से अग्नि में प्रवेश किया कि प्रहलाद जीवित जल जाए। किन्तु, ईश्वर-कृपा से होलिका तो भस्मीभूत हो गयी और प्रहलाद अक्षत अग्नि से बाहर निकल गया। रंगों के त्यौहार की पूर्व संध्या/रात्रि में अनिष्ट के विनाश के प्रतीक स्वरूप उत्सवाग्नि प्रज्वलित कर होलिका दहन दिया जाता है ।

मुगल बादशाह जो कि बड़े हर्ष के साथ होली मनाते थे, इस त्यौहार को ईद-इ-गुलाबी भी कहते थे । दिल्ली की प्रसिद्ध होली-ईद-मिलन प्रथा, जो कि मुगल काल से चली आ रही है, भारत की समिष्टिक संस्कृति को प्रतिबिम्बित करती है ।

ब्रज की होली (उत्तरप्रदेश के मथुरा-वृन्दावन प्रदेश में परम्परागत रुप से कृष्ण की बाल्यावस्था और राधा-कृष्ण की कहानियों से सम्बन्धित) कई दिनों तक मनाई जाती है । इसको फूल-डोल (Phool-Dol) भी कहा जाता है । मथुरा से लगभग 48 किमी. दूर स्थित बरसाना और नन्दगाँव, दो ग्रामों में होली असाधारण ढ़ंग से मनाई जाती है । इन गाँवों में कृष्ण और राधा के घर माने जाते है । होली के प्रथम दिन बरसाना की महिलाएँ नन्दगॉव के पुरुषों पर गुलाल और रंगीन पानी डालती हैं । वे आभासी-लड़ाई (Mock-fight) में उन पर लाठियाँ बरसाती हैं । पुरुष केवल चमड़े की ढ़ाल से ही

अपना बचाव करते हैं । इसी प्रकार दूसरे दिन नन्दगाँव की महिलाएँ बरसाना के पुरुषों पर गुलाल डालती हैं तथा उन पर रंगीन पानी की बौछार करती हैं तथा पूर्व की भांति पुरुषों पर आक्रमण करती हैं । इस आभासी लड़ाई को लट्ठमार होली (Lathmaar Holi) कहते हैं । आभासी लड़ाई को शुभ और हानि रहित आमोद-प्रमोद (Fun) माना जाता है । आनन्दपुर साहब, पंजाब में होली के दूसरे दिन सिख समुदाय के एक पथ द्वारा आभासी लड़ाइयों, धनुर्विद्या सम्बन्धी तथा बाड़ लगाने (Fencing) की प्रतियोगिताओं से उत्सव मनाये जाते हैं ।

जमसेद नवरोज :-मार्च, यह पारसी जुरूस्थुवादी (zoroastrian) पर्व है । यह बसन्त के विषुव दिन (इक्विनाक्स-Equinox) (21 मार्च जिस दिन अहोराय को दिन-रात बराबर होते हैं) से सम्बन्धित है । ऐसा माना जाता है जब परशिया (Persia) पर राजा जमशेद का शासन था, तब से यह मनाया जाता है । पारसी अग्नि-मन्दिरों में पूजा के बाद मित्रों और सम्बन्धियों में परस्पर अभिवादनों का विनिमय होता है।

महावीर जयन्ती :-मार्च/अप्रैल, जैन समुदाय के लिए यह दिन 24वें तीर्थकर "महावीर" की स्मृति में की जाने वाली प्रार्थनाओं के लिए समर्पित है । लगभग 2500 वर्ष पूर्व, इस दिन, उनका जन्म हुआ था । इस महत्वपूर्ण जैन पर्व पर सारे देश से तीथयात्री सौराष्ट्र (गुजरात) के गिरनार और पालीतना में स्थित प्राचीन चैत्यों तथा अन्य जैन तीर्थ स्थलों में दर्शनार्थ जाते हैं ।

रामनवमी :-मार्च/अप्रैल, इस दिन भारत के महाकाव्य "रामायण के नायक विष्णु के अवतार 'राम' की जयन्ती मनायी जाती है । सम्पूर्ण भारत में प्राय: समान समारोह होते हैं । उत्तरप्रदेश के अयोध्या में बड़े उत्साह से मनाया जाता है । दस दिन तक मन्दिरों को सजाया जाता है, धार्मिक चर्चाएँ होती हैं तथा रामायण का पाठ होता है । उत्तरप्रदेश में सरयू नदी के तट पर लोग एकत्रित होते हैं और समारोहपूर्वक उसमें डुबकियाँ लगाते हैं ।

गुड़ फ्राइडे :- मार्च/अप्रैल, ईसाई लोग गिरिजाघर की सेवावों के साथ गुड फ्राइडे मनाते हैं तथा इस दिन जीसस क्राइस्ट के क्रुसारोपण (Crucifixion) की याद में स्रोत पाठ करते हैं । गुड फ्राइडे से पूर्व उपवास और प्रार्थना की दीर्घ अवधि आती है । इसको लिण्ट (Lent) कहते हैं । यह ईस्टर दिवस को समाप्त होता है ।

ईस्टर डै (Eater Day) :-मार्च/अप्रैल, गुड फ्राइडे के बाद आने वाला रविवार ईसाईयों के लिए उत्सवों का दिन है । ऐसा विश्वास है कि जिससे क्राइस्ट (Jesus Christ) का इस दिन शूली पर मृत्यु के बाद पुनर्जन्म (Resurrection) हुआ था । इसके बाद स्वर्गारोहण से पूर्व 40 दिनों तक वे अपने अनुयायियों को प्रवचन देते रहे । ईसाई ईस्टर डे गिरिजाघर सेवायें-आयोजित करते हैं । वे इस अवसर को भोज-आयोजनों और मित्रों तथा सम्बन्धियों से मिलने की प्रथा से मनाते हैं । ईस्टर के जलूस निकाले जाते हैं ।

बैसाखी :-अप्रैल 13, बैसाख का यह पहला दिन कई समुदायों के लिए हिन्दुओं के वर्षारम्भ का 'सूचक है । नदी अथवा तालाब में पुण्य स्नान इस दिन की विशेषता है । कुरुक्षेत्र (हरियाणा) में स्थित 'तीर्थ' अथवा तीर्थ स्थल पर यात्री स्नान करते हैं । एक किवदंती के अनुसार इस दिन गंगा धरती पर अवतरित हुई थी । यह बंगाली नव वर्ष (Nab Barsha) का दिन भी है । बंगाल में नृत्य और संगीत के साथ प्रातःकालीन जलूस निकाले जाते हैं तथा नदियों और तालाबों में स्नान होते हैं ।

सिखों के लिए इसका विशेष महत्व है । यह दिन वह है जब गुरु गोविन्द सिंह (दसवें और सिख गुरुओं में अन्तिम) ने सिखों को "खालसा' ' (Khalsa-शुद्ध Pure) में संगठित किया था । हजारों लोग अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर में आते हैं, तालाब में स्नान करते हैं और 'ग्रन्थ साहब' का पाठ करते हैं । गाँवों और कस्बों में भंगड़ा नृत्य सामान्य दृश्य होता है । केरल में इस दिन को विषु (Vishu) नववर्ष दिवस, के रूप में मनाया जाता है । ज्येष्ठ अपने कनिष्ठ सम्बन्धियों और आश्रितों को केनीत्तम (Kyeneetam) के उपहार (Present and Gifts) देते हैं ।

बुद्ध जयन्ती (बुद्ध पूर्णिमा) :-अप्रैल/मई, इस पर्व पर गौतम बुद्ध की जयन्ती, प्रबोधन और निर्वाण मनाये जाते हैं । बौद्ध परम्परा के अनुसार ये तीनों घटनाएँ एक ही दिन हुई । बुद्ध पूर्णिमा के अवसर पर बौद्ध चैत्यों में उषाकाल से रात्रि देर तक मन्त्रोचारण और पूजा अनुष्ठानों के साथ चढ़ावार्पित होते रहते हैं । वाराणसि के निकट सारनाथ (यही बुद्ध ने प्रथम बार धर्मोपदेशक प्रवचन दिये थे), बिहार में बौद्ध गया (जहाँ-उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था) तथा सिक्किम और लद्दाख में होने वाले समारोह उल्लेखनीय हैं ।

ईद-उल-फितर :-यह पवित्र रमज़ान माह का अवसान है । इसमें मुसलमान सूर्योदय से सूर्यास्त तक उपवास रखते हैं । यह प्रथम चन्द्रदर्शन पर चिन्हित होता है । सामान्यत: इसको "मीठी ईद" कहा जाता है । इस दिन मीठी सिवँइयाँ पेश की जाती हैं । यह नये वस्त्रों, भोजों और समारोहों का दिन है, पुरुष और बालक ईदगाह पर नमाज अदा करते हैं । बच्चों को नाम और गरीबों को दान दिया जाता है, अन्य मुस्लिम त्यौहारों ईद-उल-जुहा, बारा बफात, शब-इ-बरात, की तरह इस त्यौहार का महिना भी प्रतिवर्ष बदलता रहता है । (टिप्पणी :-मुस्लिम त्यौहार चन्द्र पंचांग पर आधारित है । वे पाश्चात्य पंचांग के अनुसार प्रतिवर्ष अलग-अलग महीनों में आते हैं । क्योंकि इस्लामी हिजरी वर्ष मानक पाश्चात्य $365^{1/4}$ दिन के वर्ष से छोटा है ।) ।

शब-इ-बरात :- मुस्लिमों का विश्वास है कि इस रात को परमात्मा अपने सर्जनों (Creations) के क्रियाकलापों का अभिलेख तैयार करते हैं और उनके कार्यो के अनुरूप उन्हें भाग्य प्रदान करते हैं । मूल-रूप न पैगम्बर मोहम्मद साहब का इस रात्रि को उपवास, प्रार्थना और जागरण अभिप्राय थे । शब-इ-बरात पर्व को प्रकाश, आतिशबाजी के साथ-साथ प्रार्थनाओ के द्वारा मनाया भी जाता है।

ईद-उल-जुहा :-इसको 'बकर ईद' भी कहा जाता है, यह इब्राहिम (बाइबिल और यहूदी परम्परा के अब्राहीम) के बलिदान की बलि चढ़ाने का आदेश दिया था। इब्राहिम ने आँख मूँद कर असीम श्रद्धा के साथ ईश्वर के अनुदेशों का पालन किया। किन्तु, जब उसने अपने आँख से पट्टी हटायी तो अपने पुत्र को अपनी बगल में तथा बलि वेदी पर उसके बदले मेढ़ा को पाया । मुस्लिम परिवार, ईश्वर में अपार श्रद्धा और इब्राहिम की भेंट को बकरे अथवा मेढ़ा की बलि से प्रतीकात्मक रूप देते हैं । ईद की प्रार्थना के बाद दावत और मौज मस्ती होती है ।

नाग पंचमी :-जुलाई/अगस्त, नाग पंचमी नागराज-शेष नाग अनन्त नाग (Great Sarpent) को समर्पित है । ऐसा विश्वास है कि प्रलय और नव ब्रह्माण्ड के सृजन के मध्य की अवधि में भगवान विष्णु शेष नाग पर सवार रहते हैं । नागेश्वर की मूर्तियों को पूजा जाता है तथा उनको दुग्ध से मंगल स्नान कराया जाता है । जिससे कि सर्पदंश से छुटकारा मिल सके । सर्पो (विशेष रूप से काले नागों) को दूध अर्पित किया जाता है ।

रक्षा बन्धन/राखी - जुलाई/अंगस्त, अब यह पर्व सम्पूर्ण भारत में मनाया जाता है । बालिकाएँ अपने भाइयों, चचेरे भाइयों (रिश्ते के किसी भी भाई) की कलाई में राखियाँ, रेशमी धागे ताबीज बाँधती हैं । किसी भी व्यक्ति को राखी बाँधकर भाई का दर्जा भी दिया जाता है । बदले में भाई-बहिन को भेंट देकर उसकी रक्षा का व्रत लेते हैं ।

खॉर्दद साल (Khordad Sal) :-अगस्त/सितम्बर, यह पारसियों का महत्वपूर्ण पर्व है । इस दिन वे अपने पैगम्बर जराथुष्ट्र (Zarathushtra-Zoroaster) की जयन्ती मनाते हैं ।

गणेश चतुर्थी :-अगस्त/सितम्बर, शिव-पार्वती के पुत्र हाथी के सिर वाले भगवान गणेश के सम्मान में गणेश चतुर्थी का उत्सव मनाया जाता है । गणेश की मृत्तिका की मूर्तियाँ बनाकर बेची और पूजी जाती है । यह विशेष रूप से पश्चिमी भारत में होता है । इन मूतिर्यों की प्राण-प्रतिष्ठा (Sanctification) के बाद निश्चित अवधि तक पूजा होती है । इसके बाद इन्हें नदी या तालाब में विसर्जित किया जाता है ।

गणेश चतुर्थी (विनायक चतुर्थी) महाराष्ट्र में बहुत लोकप्रिय है । (राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम में बाल गंगाधर तिलक ने लोकोत्सवों और परम्परागत पर्वों पर राष्ट्रीयता के भाव-प्रबोधन हेतु विशेष बल दिया । इनमें एक पर्व गणेश चतुर्थी था ।) गणेश की मृत्तिका-मूर्ति को पन्नी, रंगीन कागज फूलों, पेण्ट आदि से सजाकर समारोह पूर्वक किसी घर अथवा सामुदायिक पूजा-स्थल में प्रतिष्ठित किया जाता है । लगभग 10 दिनों तक उत्साहपूर्वक भक्ति गीत गाकर इन मूर्तियों का पूजन होता है । इसके बाद इन मूर्तियों को जलूस के साथ समुद्र तट, नदी-तट अथवा तालाब में ले जाकर विसर्जित किया जाता है । इस अवधि में कई सांस्कृतिक कार्यक्रम एवं कई स्थानों में मेले आयोजित किये जाते हैं ।

जन्माष्टमी :-अगस्त/सितम्बर, इस दिन विष्णु के अवतार के रूप में पूजित कृष्ण की जयन्ती है । इस दिन शोभा यात्राएँ निकाली जाती हैं । कृष्ण की बाल्यावस्था से सम्बन्धित प्रसंगवृत्तो की झाँकियां मन्दिरों एवं परिवार की पूजा वेदी में सजाई जाती हैं । अर्द्धरात्रि के समय सम्पूर्ण वायुमण्डल भक्तिमय संगती से भर जाता है । क्योंकि विश्वास है कि इस समय उनका जन्म हुआ था । यद्यपि यह सम्पूर्ण भारत में मनाया जाता है, फिर भी ब्रज प्रदेश (मथुरा-वृन्दावन) में समारोह विशेष उत्कृष्टता लिए रहते हैं । महाराष्ट्र में भी यह स्थिति है । यहीं इसको गोकुल अष्टमी और गोविन्द कहा जाता है । इसकी विशेषता यह है कि मटकों में मक्खन, दही, सिक्के भरकर उन्हें दो भवनों के मध्य ऊँचाई पर लटकाया जाता है । युवक 6, 7 पंक्तियों के मानव पिरैमिड (Pyramid) बनाकर कोई एक ऊपर चढ़कर मटके को तोड़ता है । इस प्रकार वे बालकृष्ण की दही-मक्खन चुराने की क्रीड़ा-लीला करते हैं।

मुहर्रम :-यह एक गम्भीर (गमगीन-Solemn) अवसर है । लगभग एक हजार वर्ष पूर्व अपने अनुयायियों के साथ कर्बला में धर्म के लिए इमाम हुस्सैन (पैगम्बर मोहम्मद के पोते) के बलिदान की याद में यह पर्व मनाया जाता है । यह मुस्लिम समुदाय के एक वर्ग द्वारा मनाया जाने वाला दस दिवसीय शोक है । कागज और बाँस के बने हुए ताजियों (कर्बला में बनी कब्र के प्रीतक स्वरूप) को जलूस में ले जाया जाता है । एक घोड़ा, जो कि इमामा के घोड़े डुल-डुल का प्रतिनिधित्व करता, जलूस में चलता है, शोक-दृश्य सामान्य हैं ।

दशहरा, नवरात्रि, दुर्गापूजा:-सितम्बर/अक्टूबर, भारत के बड़े भाग में दशहरा हिन्दुओं का दस दिवसीय महत्वपूर्ण पर्व है । यह बुराई पर अच्छाई की विजय का प्रतीक है । देवी दुर्गा की महिषासुर पर तथा राम की लंका के राजा दशानन पर विजय दोनों को ही इस पर्व द्वारा मनाया जाता है । दशहरा (विजय दशमी) से पूर्व 9 रात्रियों में प्रत्येक रात्रि को दुर्गा के अलग-अलग रूपों की पूजा होती है । कई रूपों में दुर्गा की मूर्तियों का घरों और मन्दिरों में पूजन होता है । इस पर्व की अवधि में गुजरात की महिलाएँ दीपक के चारों ओर घेरे मे गर्बा नृत्य करती हैं । दक्षिण भारत में बालिकायें नारियल से आवृत्त (Crowned) पात्र के चारों ओर नाचती और गाती हैं । भारत के कुछ भागों में नवरात्रियों में लक्ष्मी और सरस्वती की पूजा होती है ।

बंगाल में दुर्गा पूजा को काली पूजा भी कहा जाता है । क्योंकि देवी को काली रूप में भी पूजा जाता है । महाकाली के मन्दिरों में होने वाले धार्मिक उनुष्ठान बड़ी भीड़ आकर्षित करते हैं । पड़ोसी देवी की बड़ी-बड़ी मूर्तियों को स्थापित कर सामुदायिक समारोहों के लिए व्यवस्थित करते हैं । इनमें तीन दिवसीय (7वीं, 8वीं, 9वीं नवरात्रियों) रात्रि-जागरण होते हैं । चतुर्थ दिन अर्थात् दशहरे के दिन भैंसे की बलि दी जाती है । तब दुर्गा की कौटुम्बिक (Household) और सामुदायिक मूर्तियों को जलूस के साथ नदियों अथवा तालाबों में विसर्जित किया जाता है ।

उत्तरी भारत के कई स्थानों में "रामलीला" कहलाया जाने वाला राम-कथा का मंचन होता है । गाँवों और शहरों में रामलीला समान उत्साह के साथ की जाती है । दसवें दिन प्रत्येक क्षेत्र के परम्परागत रामलीला मैदान में राम-रावण के अन्तिम युद्ध का नाटकीय प्रदर्शन होता है । कागज, बाँस और लकड़ी के आतिशबाजी से भरे हुए रावण, उसके भाई कुम्भकर्ण और पुत्र मेघनाद के बड़े-बड़े पुतले जलाये जाते हैं । राम का प्रतिनिधित्व करने वाला एक पात्र इन पुतलों पर अग्निबाण चलाकर इनमें रखे हुए पटाखे चलाता है । इस प्रकार बुराई पर अच्छाई की विजय की ताजी पुनरावृत्ति होती है ।

हिमाचल प्रदेश के कुलू-मनाली दशहरा उत्सवों के लिए प्रसिद्ध हैं । कुलू, मनाली, चम्बा और कांगड़ा की घाटियों में दशहरा के दस दिन ठाठ-बाट और रंगीनियों से मनाये जाते हैं । मन्दिरों, प्रतिमाओं को जलूसों में समारोह-स्थलों में ले जाया जाता है । इन उत्सवों में नाच-गान होते है । मैसूर राज्य की पूर्व राजधानी मैसूर के दशहरा-उत्सव समान प्रसिद्धि वाले हैं । अपनी भव्यता और तमाशों के लिए प्रसिद्ध यह पर्व 1610 ई. में मैसूर के राजा ने आरम्भ किया था । ऐसा माना गया है कि यह मैसूर राज्य की धरोहर (Legacy) है । शहर और राजमहल में प्रकाश किया जाता है । अमूल्य ओहार से सजधज (Richly Caparisoned) कर हाथियों, घोड़ों, सिपाहियों और झाँकियों आदि का जलूस निकाला जाता है । मुख्य दशहरा की संध्या पर यह पुराने राजमहल से बने मण्डप की ओर जाता है । इसमें आतिशबाजी और सांस्कृतिक प्रदर्शन होते हैं । आजकल राजस्थान में कोटा नगर में भी यह त्यौहार बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है ।

भरत मिलाप :- सितम्बर/अक्टूबर, हिन्दू इसको परिवार के पुनर्मिलन के लिए शुभ मानते हैं । रामायण में दिये गये वृतान्त के अनुसार 14 वर्ष के वनवास के बाद राम का अपने भाई भरत के साथ पुनर्मिलन के अवसर पर यह उत्सव मनाया जाता है । यह दशहरा के बाद होता है ।

गुरुनानक जयन्ती/गुरु परब :- अक्टूबर/नवम्बर, यह सिख सम्प्रदाय के प्रवर्तक गुरुनानक (1469-1539) की जयन्ती है । चार पवित्र स्थलों-अमृतसर, तरनतारन, पटना और आनन्दपुर में बड़ी संख्या में लोग समारोहों में उपस्थित होते हैं । सिखों के कुछ पवित्र स्थल अब पाकिस्तान में हैं । इस

अवसर पर यहीं के लिए तीर्थ यात्रियों की व्यवस्था की जाती है । वास्तविक जयन्ती से पूर्व दो दिनों और दो रात्रियों तक पवित्र "गुरुग्रन्थ साहब"का अखण्ड पाठ होता है । पर्व के दिन गुरग्रन्थ साहब को गली-गली जलूस में ले जाया जाता है । अपन हाथों में तलवार लिए हुए समुदाय केपाँच वरिष्ठ व्यक्ति पवित्र पुस्तक के साथ चलते हैं । सभी को भोग वितरित किया जाता है । गुरु पर्व जयन्ती और कुछ स्थितियों में सिख परम्परा के अन्य 9 गुरुओं के बलिदान के लिए समान रूप से मनाये जाते हैं ।

दीवाली-दीपावली :- अक्टूबर /नवम्बर, भारत का "ज्योतियों का पर्व" हिन्दू कार्तिक माह की अमावस्या (नवचन्द्र रात्रि को) दशहरा के 20 दिन बाद आता है । जाड़े की ऋतु के आरम्भ और भारत के कुछ भागों में जाड़े की फसल की बुआई के साथ, 14 वर्ष के बाद रावण का वध करने के उपरान्त राम अयोध्या लौटने के उपलक्ष में दीवाली मनाई जाती है । दक्षिण मे दीवाली कइयों के लिए कृष्ण के द्वारा नरक के वध के उपलक्ष में मनाई जाती है । बंगाल और पूर्वी भारत के कुछ भागों में इस अवसर पर काली की पूजा होती है । कई लोगों के लिए दीवाली नये व्यापारिक वर्ष की शुरूआत है । व्यापारी अपने पुराने खातों को बन्द कर नये जाते खोलते हैं । धन-सम्पदा और समृद्धि की देवी लक्ष्मी के स्वागतार्थ प्राय: सभी गाँव, नगर, कस्बे और शहर मिट्टी के दियों मोमबत्तियों और विद्युत बल्बों से प्रकाशित होते हैं । हजारों ज्योतियों मिठाइयों आतिशबाजियों सजावटों के हारा यह पर्व प्रत्येक समुदाय के हर व्यक्ति द्वारा हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है ।

दीप-दीवाली :- अक्टूबर /नवम्बर, कार्तिक अमावस्य अर्थात दीपावली के दिन जैन अपने 24 वें तीथकर महावीर स्वामी का 'मोक्ष (मानव शरीर से छुटकारा) मनाते हैं । दीपावली के दस दिन बाद दीप-दीवाली (देव-दीवाली) निश्चित तीर्थ स्थलों पर सैंकड़ों दीप प्रज्वलित कर महावीर की जन्म मरण-पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति के मिमित्त मनाया जाता है । ये ज्योतियाँ महावीर द्वारा छोड़े गये प्रकाश और उनके महाप्रयाण पर हुए अन्धकार लिए प्रकाश दोनों को ही प्रतीकात्मक रूप प्रदान करती हैं । जूनागढ के गिरनार पर्वत की पहाडियाँ दीप-दीवाली के अवसर पर भव्य समारोह की दृश्यावली बन जाती हैं । हजारों तीर्थ यात्री इन पवित्र पहाड़ियों के तलेटियो में एकत्रित होकर इस अवसर पर परिक्रमाएँ करते हैं । रात्रि में जलते हुए दीपक टिमटिमाते हैं।

(दीपावली पर मूर्तियों की खरीद का चित्र)

बारा-वफात (Eid-i-Mlad) :- मुस्लिम माह "रबी-उल-अव्वल" का बारहवाँ दिन मुसलमानों के लिए पैगम्बर मोहम्मद की जयन्ती और पुण्यतिथि दोनों ही के कारण पवित्र है । इस प्रकार पर्व ईद-इ-मिलद-उल-नबी और बारा बफात दोनों ही समारोहों का है ।

क्रिस्मस डे (Christmas Day) :- दिसम्बर 25, भारत में ईसाई लोग इस पर्व को जीसस क्राइस्ट की जयन्ती के रूप में मनाते हैं । क्रिसमस की संध्या तथा क्रिस्मस के दिन चर्च सेवावों के साथ कैरॉल का गान (Singing of Carols धार्मिक गीत) उपहारों का आदान-प्रदान और भोज होते हैं । क्रिस्मस बाद अभाव ग्रस्तों को भिक्षा, दान द्वारा मनाया जाता है । इसलिए इसको बॉक्सिंग दिवस नाम दिया गया है । (क्योंकि गरीबों के लिए द्रव्य और उपहार बॉक्सों में रखे जाते थे गिरजाघर मुख्य गिरजाघर और घरों को शिशु इशू (Infant Christ) से सम्बन्धित दृश्यों से सजाया जाता है।

गुरु गोबिन्द सिंह जयन्ती/गुरू परब : - दिसम्बर /जनवरी, सिखों के दसवें गुरु-गुरु गोबिन्द सिंह (1666 - 1708) की जयन्ती अन्य गुरुओं की जयन्तियों की भाँति बड़े जोश के साथ मनाई जाती है । सभी को '' कड़ा- प्रसाद' ' और भोजन वितरित किया जाता है ।

29.4 प्रादेशिक मेले और पर्व : उत्तर भारत

अखिल भारतीय उत्सवों के अतिरिक्त जम्मू और कश्मीर के प्रमुख मेलों और पर्वों में निम्नलिखित सम्मिलित हैं

नौरोज़ (Nauroz) /नववर्ष दिवस :- मार्च 7 अप्रैल, हिन्दू घरों में यह दिन देवी लक्ष्मी के आह्वान के साथ शुरू होता है । प्रात: काल गृहलक्ष्मी एक थाली (प्लेट) में चावल, चीनी, दही, फल, अखरोट, सिक्के, एक दर्पण और स्याही-कलम तथा नववर्ष की कुण्डली सजाकर परिवार के सभी सदस्यों को दिखाती है । ऐसा विश्वास किया जाता यह देवी के आशीर्वाद और परिवार की भौतिक तथा नैतिक समृद्धि को आमन्त्रित करना है ।

जेठ अष्टमी/खीर भवानी मेला :- मई, हिन्दू जेठ माह के शुक्ल पक्ष के 8 दिन खीर भवानी (श्री नगर से 22 किमी.) निवास करने वाली देवी रग्निया (Ragniya) को समर्पित हैं । पर्व से कई दिन पहले ही लोग खीर भवानी मन्दिर में एकत्रित होने लगते हैं । ज्येष्ठ की अष्टमी के दिन देवी की अर्चना होती है तथा उसको खीर और पुष्प अर्पित किये जाते हैं । यहाँ एक बड़ा मेला भी लगता भी लगता है।

मेला हिमिस गोम्पा (Mela Hemis Gompa) :- जून, हिमिस गोम्पा लद्दाख के सबसे बड़े और प्राचीनतम मठों में है । बौद्ध पंचांग के पंचम माह के दशम दिवस पर यहाँ वार्षिक मेला लगता है । यह तीन दिन का होता है । यह गुरु पद्म सम्भव की जयन्ती के उपलक्ष में मनाया जाता है । ऐसा कहा जाता है कि सिक्किम में भी पूजित यह गुरु लामाई बौद्ध के सन्देश लद्दाख, सिक्किम, भूटान और हिमालय के अन्य क्षेत्रों में लाये । इस पर्व पर लद्दाख का प्रसिद्ध मुखौटा नृत्य होता है ।

शाह हमदान का अर्स : - अगस्त /सितम्बर, चौदहवीं सदी के अन्त में फारस के मुस्लिम सन्त शाह हमदान कश्मीर आये थे । श्रीनगर में उनका पूजा स्थल है । यहाँ पर वार्षिक उर्स (Urs) मनाया जाता है ।

लोसर मेला (Losar Mela) :- दिसम्बर, लद्दाख में नव वर्ष पर मनाया जाने वाले यह पर्व प्रमुखत: सस्योत्सव (Harvestrelated) हैं । घरों और मठों को दीपक और मोमबत्तियों से प्रकाशित किया जाता है ।

खिचड़ी अमावस्य (Khichri Amavasya) :- दिसम्बर /जनवरी, पौराणिक धारणा के अनुसार किसी समय में कश्मीर यक्षों के रहने की स्थली थी । खिचड़ी अमावस्य पर यक्षों के निमित्त छतों और अटारियों (परछत्तियों) में खिचड़ी रखकर उनके इष्ट को इसे ग्रहण करने के आह्वान के साथ उस धरती के निवासियों के लिए शान्ति की कामना की जाती है ।

अखिल भारतीय सामान्य पर्वों के साथ-साथ आधुनिक पंजाब और हरियाणा राज्यों में सिख गुरुओं की जयन्तियाँ ओर विभिन्न मेले आयोजित होते हैं । इनमें प्रमुख इस प्रकार हैं : -

लोहड़ी :- जनवरी 13, (कभी 12), जाड़े के आगमन की सूचना के साथ लोहड़ी का सम्बन्ध सस्य-सस्त्र से भी है क्योंकि अब खेतों में फसलें पकने लगती हैं । ऐसा माना जाता है कि यह वर्ष का सबसे ठंडा दिन है । इसके बाद ठंड की ठिठुरन उत्तरोत्तर समाप्त होने लगती है । रात्रि में उत्सवाग्नि प्रज्वलित की जाती है । ये सामान्यत: सामुदायिक होते है । परम्परा के अनुसार विवाह अथवा अन्य खुशी के अवसर वाला परिवार इस उत्सव पर गाँव के अन्य लोगों के लिए मेजबानी करता है । रात्र्योत्सव में अग्नि केन्द्र हैं । इस पवित्र अग्नि में खील बताशों और रेवडियों की आहुतियाँ दी जाती हैं । इसमें लोकगीत गाये जाते हैं ।

भाई दूज/टिक्का :- अक्टूबर/नवम्बर, दीवाली के दूसरे दिन लड़कियाँ और महिलायें इस पर्व को मनाती हैं । वे अपने-अपने भाइयों को परम्परा के अनुसार टीका करती हैं । इसकी भावनायें रक्षा बन्धन के समान हैं ।

हिमाचल प्रदेश अपने आकर्षक मेलों और पर्वों के लिए विख्यात है । दशहरा के अलावा सरबाड़ी (Sarbari), बैजनाथ, कुंज दरबार में शिवरात्रि मेले, सैल्यान (Saliana) में कुश्ती के लिए विख्यात सैल्यान मेला (पालमपुर), सुजानपुर, तीरा (Tira) हमीरपुर जैसे स्थानों मे होली-मेलों के हर्षोत्सव महत्वपूर्ण हैं । अन्य स्थानीय पर्वों में प्रमुख हैं-कणिहार (Hanihar) में कणिहार मेला (मार्च/अप्रैल, कौंगडा), भवर्ना (पालमपुर) में भीखाशाह मेला (मई) ऊपरी धर्मशाला (कॉगड़ा) का डाल (Dal) मेला (अगस्त/सितम्बर) जो कि सर्प देवी नागिनी माता के सम्मान में आयोजित होता है ।

चम्बा का मंजर मेला -चम्बा की आकर्षक घाटी का यह मेला सुन्दर कौतुक उपलब्ध करता है । पूर्व में राजमहल से राबी नदी की दृश्यावली प्रस्तुत करने वाले स्थल अधरशिला तक चम्बा के राजा की सवारी इस दिन के उत्सवों में प्रमुख थी । आजकल राज्य के पदाधिकारियों और जनता इस स्थल पर एकत्रित होती हैं । यहीं से प्रत्येक व्यक्ति रेशम और चाँदी से बने मिन्जार (Minjar) कहलाने वाले गुच्छे को नदी में फेंकता है । किसी विपत्ति के विरुद्ध नगर और नगरवासियों की सहायता के लिए देवी सरिता की तुष्टि हेतु यह प्रतीकात्मक समर्पण है । पूर्व में जवान भैंसा उफनती नदी में धकेल कर उसकी बलि दी जाती थी । किन्तु, अब यह प्रथा रोक दी गयी है ।

ज्वालामुखी मेला :- अप्रैल और अक्टूबर, काँगड़ा घाटी में स्थानीय लोगों और देश के दूसरे भागों से आने वाले तीर्थ यात्री देवी के प्रचण्ड ज्वालामुखीय स्वरूप 'ज्वालामुखी' की पूजा करते हैं । ज्वालामुखी से निकलने वाले आग्नेय जेटी को पवित्र माना जाता है । अप्रैल मे नवरात्रा मेला और अक्टूबर में दशहरा मेला बहुत भीड़ आकर्षित करता है । जन समूहों में प्रार्थनायें और हर्षोल्लास होते हैं ।

होली, दीवाली, दशहरा, ईद के अलावा दिल्ली राज्य के प्रमुख पर्व इस प्रकार है-

फूल वालों की सैर/सैर-ए-गुलफरोशॉ -अगस्त/सितम्बर, पुष्पों और पुष्प विक्रेताओं के जलूस के रूप में विख्यात यह पुष्प पर्व मुगल काल से चला आ रहा है । हिन्दू, मुस्लिम और अन्य सहृदय इसमें सम्मिलित होते हैं । महरौली की गलियों में ताड़ के पत्तों से बने हुए तथा फूलों और गोटे से सजे हुए बड़ेबड़े पंखों के साथ कौसुम-भेट सहित जलूस निकलता है । सैर मे अग्नि नर्तक सम्मिलित होते हैं । इल्तुतमश (Illtumish) के समय पवित्र सरोवर-हौज-इ-शमूशी से जलूस आरम्भ होता है । ख्वाजा कुतुब साहब से प्रसिद्ध ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार (चिस्ती परम्परा के दूसरे सूफी सन्त) की दरगाह से होकर यह जोग-माया मन्दिर में जाता है, इन दोनों धार्मिक स्थलों में हिन्दू और मुस्लिम दोनो ही पूजा करते हैं । हौज़-इ-शम्सी के उत्तर पूरब में स्थित जहाज महल में एक साझा समारोह होता है ।

हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया का उर्स :- कई लोग चिस्ती परम्परा के चतुर्थ सन्त ख्वाजा सेख निज़ामुद्दीन औलिया (1238- 1324) का सम्मान करते हैं । उनका आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए भक्तगण उनके मकबरें में जाते हैं । ऐसी मान्यता है कि दरगाह के सरोवर के जल में घाव भरने का गुण है । एक उर्स शेख निजामुद्दीन औलिया की याद में और दूसरा उनके अनुयायी प्रसिद्ध शायर अमीर खुसरों की याद में मनाया जाता है । यहां पर मुशायरा आयोजित किया जाता है । सम्पूर्ण दक्षिण एशिया के तीर्थयात्री यहाँ एकत्रित होते हैं ।

उत्तरप्रदेश के सुपरिचित पर्वों में होली, रामनवमी, दीवाली, दशहरा, जन्माष्टमी, ईद, मुहर्रम आदि हैं । इसके अतिरिक्त निश्चित अन्तराल में इलाहाबद (प्रयाग) और हरिद्वार (मध्यप्रदेश के उजैन और महाराष्ट्र के नासिक के साथ) में महाकुम्भ और अर्द्धकुम्भ मेले लगते हैं । अन्य स्थानीय उत्सवों में माघ (जनवरी/फरवरी) में प्रयाग का माघ मेला महत्वपूर्ण है ।

कुम्भ मेला (महाकुम्भ और अर्द्धकुम्भ) :- यह धार्मिक एकत्रीकरण 12 वर्ष के अन्तराल पर बारी-बारी से चार धार्मिक स्थलों में से एक जगह होता है । प्रत्येक 6 वर्ष की अवधि में एक अर्द्धकुम्भ होता है । पुराणों के अनुसार देवताओं और असुरों द्वारा समुद्र मन्थन से निकले 14 रत्नों में एक ' अमृत घट' था । अमृत के लिए संघर्ष के कारण अमृत की कुछ बूंद छलक गयी । ये अमृत की बूँदें 'पाताल' सहित 12 स्थानों पर गिरी । इनमें 4 हरिद्वार, उज्जैन, इलाहबाद और नासिक हैं । जो कि भारत में हैं । 12 वर्षों के चक्र में इन चार स्थानों में महामेले लगते हैं । ये मेले पर्यटकों और भक्तजनों को आकर्षित करते हैं ।

रथयात्रा वृन्दावन :- मार्च /अप्रैल, इस पर्व पर, मथुरा के निकट वृन्दावन में 10 दिन तक गलियों में विष्णु और लक्ष्मी की मूर्तियों भव्य रथों में ले जाई जाती हैं । मुख्य समारोह रंगजी मन्दिर में होता है ।

वृन्दावन का सावन पर्व :- जुलाई /अगस्त, एक समय की बात है कि विष्णु के हाथी ने फूल चुनते पानी के निकट अपना पाँव मगर के मुँह में पाया । हाथी ने विष्णु से मदद की प्रार्थना की । उसकी प्रार्थना स्वीकृत हुई । इस मुक्ति के उपलक्ष में यह त्यौहार मनाया जाता है ।

बन यात्रा :- अगस्त /सितम्बर, ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस माह में कृष्ण ने क्रोधित इन्द्र की भारी वर्षा से ग्रामीणों की गोवर्धन पर्वत के नीचे शरण देकर रक्षा की थी । इस घटना की

याद में बन यात्रा मनायी जाती है । यह एक महीने तक मनाया जाता है । ऐसी अपेक्षा की जाती है कि इस अवधि में तीर्थयात्री उन सभी स्थानों के दर्शन करें जिनका सम्बन्ध कृष्ण के जीवन से रहा है । पूरे माह की तीर्थ यात्रा की सफलता इसको पूर्ण विश्वास के साथ पूर्ण करने में निहित है । तीर्थ स्थलों पर इस कला में निपुण मण्डलियों द्वारा भगवान कृष्ण के जीवन प्रसंगों को प्रस्तुत करते हुए "रास-लीला' का निष्पादन होता है ।

कन्स का मेला :- अक्टूबर /नवम्बर, मथुरा और फतहपुर सीकरी में कृष्ण की अपने मामा मथुरा के दैत्यराज कन्स पर विजय के उपलक्ष में यह पर्व मनाया जाता है । कन्स का बहुत बड़ा पुतला बनाया जाता है । कृष्ण और उनके भाई बलराम के रूप में दो बालक फूल से भरी हुई छड़ियों से पुतले को भेदते हैं । इस प्रकार कनन का प्रतीकात्मक वध होता है ।

29.5 प्रादेशिक मेले और पर्व : मध्य और पश्चिमी भारत

मध्य और पश्चिमी भारत के समाराहों में प्राय: वही सम्मिलित हैं जो कि सारे भारत में मनाये जाते हैं, यथा-बसन्त पंचमी, शिव रात्रि, होली, दशहरा, दीवाली और मुस्लिम पर्व । दिसम्बर के अन्त से मध्य जनवरी तक मनाये जाने वाले मेले ग्वालियर का दशहरा और ग्वालियर का वार्षिक मेला तथा शिवपुरी मेला समान रूप से जाने जाते हैं । गोंड, भील आदि प्रादेशिक जन जातियाँ अतिरंजित नृत्य- 'डेग्ला', 'लांगी' और फागनृत्य अपने कई स्थानीय पर्वों पर करते हैं । मध्य भारत के कुछ समारोह इस प्रकार है -

उज्जैन में महाकुम्भ अर्द्धकुम्भ : -शिप्रा नदी पर स्थित प्राचीन नगर उज्जैन उन 4 स्थानों में हैं, जहाँ कुम्भ और अर्द्ध कुम्भ मेले लगते हैं । ग्रहणों और स्नान की दृष्टि से महत्वपूर्ण धार्मिक दिवसों पर कई तीर्थ यात्री उज्जैन आते हैं । नासिक (महाराष्ट्र) में भी कुम्भ मेला होता है ।

ग्वालियर का तानसेन की याद में उर्स :- अप्रैल, अखिल भारतीय संगीतज्ञ यहाँ एकत्रित होकर अवसर की शोभा बढ़ाते हैं । वे मुगलकाल से संगीत सम्राट की स्मृति में परम्परागत और नव रचित गीत गाते हैं ।

अखिल भारतीय पर्वों और मेलों के अलावा महावीर जयन्ती, दीप दीवाली, नवरात्रि, गुजरात में विशेष रूप से मनाये जाते हैं ।

नवरात्रि :- सितम्बर /अक्टूबर, गुजरात के नवरात्रोत्सव अपने रंग, संगीत और नृत्य से असाधारण आकर्षण के केन्द्र हैं । 'दशहरा' से पूर्व नौ दिनों-रातों तक ' गर्बा ' नृत्य और पारम्परिक पूजा से उत्सव मनाये जाते हैं ।

महाराष्ट्र में शिवरात्रि, होली, गणेश चतुर्थी आदि सभी त्यौहार मनाये जाते हैं । जुलाई /अगस्त इकाई में 'नारियल दिवस (Cocount day) मानूसन ' की विदाई पर मनाया जाता है । सागर-स्नान के साथ यज्ञोपवित परिवर्तन से इस उत्सव को मनाया जाता है । वीर पुरुषों और सन्तों की स्मृति में मेले और पर्व होते हैं ।

राजस्थान के पर्वों में स्थानीय मेले और धार्मिक उत्सव यथा - शीतलाअष्टमी : चेचक जैसी महामारी बीमारी की देवी शक्ति की आराधना हेतु, जैन समुदाय का प्रमुख 'ऋषभदेव-जयन्ती',आखातीज

(अक्षय तीज) आदि सम्मिलित है । अखिल भारतीय पर्व नवरात्रि, दशहरा, दीवाली,होली, ईद, आदि समान रूप से महत्वपूर्ण है । अन्य उत्सवों में प्रमुख हैं :-

गणगौर : - मार्च /अप्रैल, गणगौर का बसन्तोत्सव गौरी (पार्वती) के सम्मान में मनाया जाता है ।यह पर्व बालिकाओं और विवाहित महिलाओं के लिए विशेष महत्व का है । होली के बाद 16 दिनों तक देवी की प्रतिमा का पूजन होता है । उत्सवों का चरम भगवान शंकर के पदार्पण पर सम्पन्न होता है । वे गौरी को लेकर रंग-बिरंगे जलूस के साथ अपने धाम को लौटाते हैं । इस प्रकार यथोचितकर्मकाण्ड से इतिश्री होती है । जयपुर में, रंगबिरंगे आकर्षक परिधानों में सुसन्नित बालिकाएँ औरमहिलाएँ दुर्बा आदि पवित्र घास और श्री फल (जटायुक्त नारियल) से ढके पीतल-पात्रों और सिर पर सन्तुलित किए हुए जलूस के रूप में सिटी पैलेस से देवी के मन्दिर की ओर बढ़ती है ।यहाँ मूर्ति को पुष्पों और आभूषणों से सजाया-संवारा जाता है । शिव-प्रतिमा के पहुँचने पर देवी और शिवको आकर्षक परिधानों से सुसन्नित लोगों, हाथियों, घोड़ों, ऊँटों और संगीतज्ञों के जलूस के साथ प्राचीन प्राचीर के जयपुर शहर में ले जाते हैं । उदयपुर में भी ऐसा ही समारोह होता है । इस अवसर पर पिछौला झील में नावों का जलूस इस पर्व की आवश्यक विशेषता है ।

तीज : -जुलाई, इसको श्रद्धा से ' तीज माता' भी कहते हैं । यह मानसून के स्वागत एवं पार्वती के स्वागत में मनाया जाता है । तीज भी मुख्यत: लड़कियों और महिलाओं के द्वारा मनाया जाता है । दो दिनों तक देवी की पूरे शिष्टाचार से पूजा होती है । ऐसा माना जाता है कि इस अवधि में अपने माता-पिता के घर आतिथ्य में हर्षोल्लासित रहती है । तीसरे दिन उन्हें दुल्हन की भाँति अलंकृत कर माता-पिता के घर से रंगबिरंगे जलूस की अनुरक्षा में विदा किया जाता है । जलूस के साथ हाथी, ऊँट और घोड़े होते हैं जैसा कि स्पष्ट है यह मानसून के आवागमन का शुभावसर है । इस अवसर को वृक्षों की डालियों पर झूला झूलने के लिए शुभ समझा जाता है । बालायें और ललनाये नये परिधानों में सजकर हाथों में मेहंदी रचाती हैं । लड़कियों और पुत्र-वधुओं को उनकी माताओं और सासों, से उपहार स्वरूप सिन्झारा (Sinjhara) - काजल, मेहन्दी, सिन्दूर और वस्त्रों के रूप में, दिया जाता है ।

पुष्कर मेला :- अक्टूबर /नवम्बर, भारत के पवित्र तीर्थ स्थलों में एक पुष्कर, जहाँ कि ब्रह्मा का एक मात्र मन्दिर है, भारत में आज भी पूजा जाता है । एक किंवदन्ती के अनुसार एक बार जब ब्रह्मा ' यज्ञ' के लिए किसी समुचित स्थान को ढूँढ रहे थे, तो उनके हाथ से एक कमल का फूल गिर गया । यह स्थल जहाँ पर यह पुष्प गिरा, प्रसिद्ध पुष्कर है । कार्तिक माह में यहीं पर एक वार्षिक मेला लगता है । परम्परागत इस धार्मिक अवसर पर, कृषक और पशु पालक निकट और दूर के स्थानों से आकर ऊँटों और पशुओं का विनिमय करते हैं । यह मेला कई दिनों तक चलता है । कार्तिक पूर्णिमा पर धार्मिक स्नान पुष्कर झील में होता है ।

ख्वाजा मोइन-उद्-दीन चिस्ती (गरीब नवाज) का उर्स :- ख्वाजा साहब चिस्ती परम्परा के सूफी सन्त हैं । वे भारत के परम श्रद्धालु सन्तों में है । अजमेर की इस दरगाह पर तीर्थ यात्रा करने वालों में मुगल सम्राट थे । वार्षिक उर्स 7 दिन तक मनाया जाता है । इसमें सभी को भोजन बांटा जाता है और कब्बालियाँ गायी जाती है ।

29.6 प्रादेशिक मेले और पर्व : पूर्वी और उत्तर पूर्वी भारत

बिहार के पर्व लगभग वही हैं जो कि उत्तरी, पश्चिमी और मध्य भारत के हैं । बोधगया में बुद्ध जयन्ती और पटना के गुरूपरब भी महत्वपूर्ण उत्सव हैं । पर्वों में उड़ीसा की रथ-यात्रा अन्य प्रसिद्ध पर्वो में है । अन्य स्थानीय मेलों के साथ-साथ सिक्किम में अन्य कई उत्तर-पूर्वी राज्यों की भाँति बौद्ध त्यौहार मनाये जाते हैं । असम और उत्तर-पूरब में मनाये जाने वाले पर्व इस प्रकार हैं- जोड़ो को बिहु (Bihu), रास लीला, खिरई पूजा (kherai Puja), खासियों का नौङ्गक्रम पूजा (Nongkrem Puja) नागाओं का सिक्रिनी जिन्ना (Sekreni Jenna), गारो का वन्गाला (Wangala) बंगाली पर्वो में बसन्त पंचमी, डोल पूर्णिमा और दुर्गा पूजा शामिल है ।

भोगली बिहु (Bhogali Bihu) :- जनवरी, असम का यह त्यौहार जाड़े की फसल धान आदि की कटाई पर मनाया जाता है । गाँवों में छप्पर से ढके हुए मण्डप बनाये और प्रकाशित किये जाते हैं । दूसरी सुबह भोज और भैंसों की लड़ाई प्रमुख आकर्षण हैं ।

डोल पूर्णिमा :- मार्च/अप्रैल, होली के समान, यह त्यौहार कृष्ण की मूर्तियों पर 'गुलाल' और 'अबीर' के पाउडर लगाकर मनाया जाता है । कृष्ण की मूर्तियों को फूलों से सुसज्जित डोलों (झूलते हुए पालने) में जलूस के साथ ले जाते हैं । यह चैतन्य महाप्रभु की जयन्ती भी है । वैष्णवों के लिए इसका विशेष महत्व है ।

गोरू बिहु (Goru Bihu) :- अप्रैल/मई, उत्तर-पूर्वी यह पशु पर्व हिन्दुओं के नववर्ष दिवस पर मनाया जाता है । पशुओं को सजाया जाता है, उन पर हल्दी का विलेपन किया जाता है । इन्हें गुड और बैंगन दिये जाते हैं ।

रंगोली बिहु (Rangoli Bihu) :- अप्रैल/मई, असम में लड़कियाँ अपनी पसन्द के युवकों को बुने हुए स्कार्फ भेंट करती है, बदलें में वे लड़कियों को खूबसूरत फूलों के पौधे "कपो (kapo)" उन्हें देते हैं । इसके बाद नृत्य और उत्सव होते हैं ।

भगवान जगन्नाथ का पुरी कार पर्व :- जून/जुलाई, विष्णु के एक अवतार भगवान जगन्नाथ के सम्मान में यह पर्व होता है । पुरी के प्रसिद्ध मन्दिर से जगन्नाथ, उनके भाई बलभद्र और बहिन सुभद्रा की मूर्तियाँ तीन विशाल रथों में गुण्डीचाबाड़ी (Gundicha Bari) जलूस में ले जाई जाती है, जो कि यहीं से लगभग 3 किमी. दूर है । सात दिन बाद इन देव विभूतियों को वापिस उनके मन्दिर में लाते हैं । सारे भारत से आये भक्तगण जलूस में भाग लेते हैं । अब यह 'रथ यात्रा' दूरदर्शन पर प्रदर्शित की जाती है । इन मूर्तियों से इन्द्रद्युम्न और विश्वकर्मा की एक कहानी जुड़ी हुई है ।

इसके अतिरिक्त, पुरी में जगन्नाथ यात्रा से पूर्व 3 सप्ताह के चन्दन-यात्रा उत्सव होते हैं ।

रासलीला :- अक्टूबर/नवम्बर, मणिपुर में नर्तक-नर्तकियाँ मध्य अक्टूबर से मध्य नवम्बर तक कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित दृश्यों पर लीलाएँ करते हैं ।

लक्ष्मी पूर्णिमा :- अक्टूबर/नवम्बर, बंगाल में दुर्गा पूजा के बाद पहली पूर्णिमा पर कोजागड़ी लक्ष्मी पूर्णिमा मनाई जाती है । इस अवसर पर लक्ष्मी पूजन होता है । रात भर घी का दीप प्रज्वलित कर लक्ष्मी का आशीर्वाद प्राप्त किया जाता है ।

पौष संक्रान्ति (गंगा सागर मेला) :- दिसम्बर /जनवरी, पौष संक्रान्ति पर प. बंगाल में गंगा सागर द्विप की तीर्थ 'यात्रा होती है । यहां पर गंगा नदीं बंगाल की खाड़ी में गिरती है ।

29.7 प्रादेशिक मेले और पर्व : दक्षिण भारत

दक्षिण भारत के पर्वों (भारत के अन्य भागों के समान पर्वों के अलावा) प्रमुख केरल का ओणम, आन्ध्रप्रदेश और तमिलनाडू का पोंगल, मैसूर में कर्नाटक का दशहरा, गोवा का क्रिस्मस हैं । गोवा के लिए निम्नलिखित भी प्रमुख है :-

कर्निवल (Carnival) :- फरवरी /मार्च, इसका अर्थ कैथोलिकों दारा उपवास और तप की अवधि के पूर्व मेले की तरह का मनोरंजन और /अथवा भोज है । कैथोलिक गोवा इसको ईस्टर से पूर्व की अवधि में मनाता है । यह संगति, नृत्य और रंगों से भरपूर परेड के साथ एक प्रचण्ड घटना है ।

सेण्ट जैविअर का भोज (The feast Of Xavier) :- तीन दिसम्बर, गिरजाघरों में विशेष प्रार्थना (इसाई कर्मकाण्ड का रूप) होती है और भारत में सेण्ट फ्रांसिस जैविअर के मिशन के उपलक्ष में जलूस निकाले जाते है । बंगलौर, दमन, केरल के कुछ भागों और बम्बई मे भी यह मनाया जाता है । कर्नाटक के कई पर्व हैं, यथा मार्च के अन्त में नन्जागुड कार पर्व (Nanjagnd car Festival), मेल्कोट का वैरामडी (Vairamudi of Melkote) । अन्य पर्वो में निम्नलिखित सम्मिलित हैं

श्रवणबेलगोला का महामस्तकाभिषेकम् :- हर 15 वर्षो में जैन सन्त गोमटेश्वर की विशाल 17 मीटर (57 फीट) ऊँची ग्रेनाइट की मूर्ति का पुष्पों, तेल, मधु, दधि, स्वर्ण, चाँदी आदि अमूल्य रत्नों से अभिषेक किया जाता है । कहा जाता है कि यह मूर्ति 1000 वर्ष से अधिक पुरानी है । पौराणिक गाथाओं के अनुसार कई शताब्दियों पूर्व राजकुमार गोमटेश्वर ने अपने भाई के साथ गृह युद्ध लड़ा । किन्तु, राज्य प्राप्त होने के बाद उन्हें भौतिक शक्ति की निरर्थकता की अनुभूति हुई । इसलिए वे तपस्वी बन गये और उन्होंने राज्य अपने भाई को दे दिया । स्तुति में, उनके भाई ने गोमटेश्वर की स्वर्ण-मूर्ति बनवाई । सदियों बाद, चामुण्डादास नामक मन्त्री की माता कलाल देवी ने यह कहानी सुनी और जब तक इस आश्चर्य के दर्शन नहीं करेगी, तब तक अन्न ग्रहण न करने का व्रत लिया । उनका पुत्र उन्हें तीर्थ-यात्रा के सन्धान पर ले गया । जब वे श्रवणबेल गोला पहुँचे तो चामुण्डा दास को कहा गया कि वह ऊँची से ऊँची चट्टान पर तीर चलाये । उसने ऐसा ही किया । जब उसकी आंखे खुली तो वह गोमटेश्वर की मूर्ति का विशाल शीश देखकर अचम्भित हुआ । मूर्ति का शेष भाग एक पुजारी ने ढूँढ़ा । चामुण्डादास को ज्ञात हुआ कि मर्त्य नेत्रों के लिए अब मौलिक स्वर्ण मूर्ति नहीं थी और भविष्य में ग्रेनाइट मूर्ति को ही सम्मान दिया जाना है ।

सेण्ट फिलॉमिना का भोज (The Feast of St. Philomena) :- अगस्त 11, मैसूर में सन्त फिलॉमिना के कैथीड्रल (Cathedral) में एक सेवा आयोजित की जाती है तथा शहर में सन्त की मूर्ति का जलूस निकाला जाता है ।

तमिलनाडू और आन्ध्रप्रदेश के लिए पोंगल और उनके नव-वर्ष दिवसों पर होने वाले पर्वों के अलावा प्रमुख पर्वो में सम्मिलित हैं :-

त्यागराज पर्व :- जनवरी, प्रसिद्ध रचनाकार सन्त त्यागराज का जन्म सन् 1767 में हुआ । वे अपनी तेलुगु आदि रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं । इस अवसर पर तन्जावुर (Thanjavur) के निकट

तिरुवैयारू (Tiruvaiyaru) में संगीतज्ञ एकत्रित होते हैं । ऐसा विश्वास किया जाता है कि यहां गाने वाले गायकों को सुरीला स्वर आशीर्वाद के रूप में प्राप्त होता है ।

मीनाक्षी कल्याणम् /मदुरै सरिता पर्व (Meenakshi kalyanam/Madurai River Festival) :- अप्रैल/मई, वैगई नदी (Vaigai) के तटों पर तथा मीनाक्षी मन्दिर से चलने वाला जलूस मीनाक्षी (देवी) का सुन्दरेश्वर (शिव) से विवाह दर्शाता है । विवाह में अपार हर्ष के मध्य देवता 'अलगर' (Alagar-विष्णु) दूल्हे को अपनी बहिन मीनाक्षी सौंपते हैं । जबकि उनके भक्तगण पीले और लाल वस्त्रों में जलूस के साथ नृत्य और गायन करते हैं ।

कावेरी नदी पर्व (Kaveri River Festival) :- अगस्त, ग्राम-देवी-देवताओं को हस्तलिपियों, ग्राम-अभिलेखों, दूध, चावल, मनकों (Beads), लाल चूड़ियों तथा उर्वरकता और सम्पन्नता के प्रतीकों के साथ जलूस में कावेरी नदी में ले जाते हैं । देवी के रूप में रक्षार्थ नदी का आह्वान किया जाता है।

बलङ्न्नी (Velanganni) में पर्व :- सितम्बर/अक्टूबर, कैथोलिक ईसाइयों का विश्वास है कि कई वर्ष पूर्व नागापट्नम के निकट वेलहन्नी में एक मछुआरे के जाल में कुमार माँ (इशू की माता) की विलक्षण प्रतिमा मिली । लोग अपनी कमजोरियों से मुक्त होने के लिए यहां आते हैं ।

नवरात्रि, दशहरा, आयुध-पूजा, विजयदशमी :-अक्टूबर/नवम्बर, भारत के अन्य भागों की भाँति, दस दिन यहां भी अलग-अलग तरह से मनाये जाते हैं । दीवाली कृष्ण द्वारा नरकासुर का नाश करने के उपलक्ष में मनाई जाती है । इसमें धार्मिक तेल-स्नान होते हैं '।

कार्तिकेय (Kartikai) :- नवम्बर/दिसम्बर, 'प्रकाशों का पर्व' पूर्णिमा पर होता है । एक प्रचलित लोक विश्वास इस पर्व को राजा महाबलि से जोड़ता है । दूसरों के अनुसार इसका सम्बन्ध क्रमश: ब्रह्मा, विष्णु, महेश से हैं । तिरुवन्नामलाई (Tiruvannamalai) के अरुणाचल पर्वत पर यह प्रभावपूर्ण उत्सव होता है । शिव-मन्दिर के आगे विशाल प्रकाश संकेतक प्रज्वलित किया जाता है ।

वैकुण्ठ एकादशी :- नवम्बर/दिसम्बर, यह पौराणिक गाथा कि राजा रुक्मागद (Rukmangada) की प्रार्थना पर उसको वैकुण्ठ ले गये । इस पर्व पर लोग 'वैकुण्ठ वसल (Vaikntha Vasal) दरवाजे से लेकर मन्दिरों में प्रवेश करते हैं । जिससे कि उन्हें वैकुण्ठ जाने का वरदान मिल सके । श्रीरंगम् में यह 20 दिन तक मनाया जाता है ।

मन्दिर पर्व/ब्रह्मोत्सवम् :- ब्रह्मोत्सव का पर्व मदुरै के मीनाक्षी मन्दिर, कॉचपुरम तिरुपति, श्रीरंगम आदि में अलग-अलग समय में मनाया जाता है । मन्दिर के देवी-देवताओं को शानदार जलूसों में ले जाते हैं । निश्चित अवसरों पर अलंकृत (नक्काशी वाले) लकड़ी के बडे-बड़े रथों में प्रतिमाएँ रखी जाती हैं, जैसे कुम्बाकोणम (Kumbakonam) के निकट तिरुवदामरुदुर (Tiruvadamarudur) में।

तिप्पम (Teppam) :- फरवरी /मार्च, मन्दिर की प्रतिमा को खूब सूरतढंग से सजाये गये 'टिप्पम' में रखा जाता है या मन्दिर के जलाशय में तैराया जाता है और 3,5,7 बार पुजारियों के मन्त्रोचार के साथ जलाशय की परिक्रमा की जाती है ।

केरल के प्रमुख पर्वो में 'पूरम' (अप्रैल /मई) 'हाथियों' आदि के शानदार जलूस के साथ मनाया जाता है और त्रिचूर (Trichur) के वडाक्कुनाथन् (Vadakkunathan) मन्दिर में आतिशबाजी होती है । ओणम का विशेष महत्व: है ।

ओणम (Onam) :- सितम्बर/अक्टूबर :- पौराणिक कथा के अनुसार राजा महाबली ने बड़ी तपस्या की और सर्वशक्तिमान बन गया । विष्णु ने बोने ब्राह्मण 'वामन' (Vaman)) का भेष बदलकर राजा से दान के रूप में 3 डग भूमि मांगी। राजा तैयार हो गये । इस पर 'वामन' अलौकिक मानव के रूप में आ गया । उसने अपने दो डगों में पृथ्वी और स्वर्ग को तय कर दिया । वामन ने पूछा कि वह तीसरा डग कहा भरे । महाबली ने इस पर अपना मस्तक प्रस्तुत कर दिया । इस पर वह पाताल लोग धकेल दिया गया । उसकी ईश्वर भक्ति से महाबलि को पाताल का राजा बना दिया गया । उसको वर्ष में एक बार अदृश्यरूप में अपने पुराने राज्य में लौटने की अनुमति मिली । ओणम को मनाकर राजा महाबलि को आश्वस्त किया जाता है कि उसके राज्य मै सब कुछ ठीक है और उसकी जनता प्रसन्न और सम्पन्न है ।

त्रिचूर में ओणम सजे धजे हाथियों और आतिशबाजी के साथ एक जलूस निकाला जाता है । पौराणिक कथा के आधार पर शौरनपुर (Shoranpur) में कथावली नर्तकी दृश्यवलियां प्रस्तुत करते हैं । जबकि नावों की दौड़ वल्लुमकलि (Vallumkali) अरनामलई (Aranmulai) और कोट्टायम में ओणम पर्व की विशिष्टता है । यहीं उड्डी (Odde) नावों को गाजे बाजों ओर गानों के साथ प्रत्येक नाव को 100 मल्लाह खेते हैं । चार दिवसीय ओणम पर्व के सबसे महत्वपूर्ण दूसरे दिन 'तिरुओणम' (Tiruonam) के अवसर पर महाबलि के आगमन के लिए सभी चीजों को साफ किया जाता है । और सजाया जाता है । भगवा रंग के मांगलिक थानों को सम्बन्धियों और मित्रों को भेंट स्वरूप दिया जाता है । भोज और उत्सव आणमको चिह्नित करते हैं । (यह फसल पकने की अनुषगी है) ।

29.8 इकाई सारांश

इस इकाई में हमने भारत के कई मेलों और पर्वो के विषय में पढ़ा । स्थान की सीमा ने प्रत्येक पर्व के विवरण से वंचित रखा । आपको यह अनुभूति हो रही होगी कि आपके प्रदेश और निवास के स्थान के पर्व इस इकाई में चर्चित पर्वो से कही अधिक हैं । लेकिन फिर भी यहाँ यह प्रयास किया गया है कि भारत के न केवल प्रमुख पर्व एवं मेलों बल्कि स्थानीय स्तर पर आयोजित किए गए उत्सवों का वर्णन जहाँ तक सम्भव हो किया जाए । हमने यह भी देखा कि भारत एक ऐसा देश है जहाँ प्रत्येक धर्म व सम्प्रदाय यहीं तक कि जाति विशेष का भी पूर्व एवं उत्सव है । अतिरिक्त अवसर मिलने पर सम्मिलित होते हैं । यही भारत की सांस्कृतिक विशेषता है ।

29.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिए :-

(1) भारत में फसल कटने के अवसर पर किस प्रकार के उत्सव मनाये जाते हैं ।

(2) उत्तरी पूर्वी भारत के मेलों का विवरण दीजिये ।

(3) भारत में मनाये गये इसाई धर्म के त्यौहारों की रूपरेखा समझाइये ।

(4) मुगलों ने भारत के किन त्यौहारों में रूचि दिखाई ।

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिये -

(1) पोंगल त्यौहार का विवरण दीजिए ।

(2) दशहरा भारत में विशेष रूप से कहां-कहा आयोजित होता है ।

(3) ईद का त्यौहार किन अवसरों पर मनाया जाता है ।

(4) सूफी उत्सवों का विवरण दीजिए ।

इकाई 30 "भारतीय लोक-कलाएँ एवं लोक स्मारक"

इकाई संरचना

30.1 उद्देश्य
30.2 प्रस्तावना
30.3 मांडना चित्रांकन
30.4 मेहन्दी महावर
30.5 गोदना
30.6 मधुबनी कला
30.7 पेपरमेशी कला
30.8 पड़ चित्रण
30.9 रंगावली
30.10 छाया कठपुतली
30.11 अन्य विशिष्ट लोक कलाएँ
30.12 लोक संस्कृति स्मारक
30.13 आधुनिक युग में लोक कला का महत्व
30.14 इकाई सारांश
30.15 अभ्यासार्थ प्रश्न
30.16 पठनीय प्रासांगिक ग्रन्थ

30.1 उद्देश्य

सामान्य जन की कला लोक कला कहलाती है । जनमानस की सांस्कृतिक आकांक्षा जब कलात्मक सौन्दर्य के साथ सहज अभिव्यक्ति पाती है, उपलब्ध वस्तुओं की सहायता से अपने सुन्दरम रूप में प्रस्तुत होता है तो वह लोक कला का स्वरूप ग्रहण करती है । यह कला जनमानस की आन्तरिक सर्जनात्मक कला प्रवृत्ति की प्रेरणा से उद्भूत होती है ।

इस इकाई के माध्यम से आप उन जन भावनाओं की अभिव्यक्ति का परिचय पायेंगे । इस विषय को व्यापकता देने के लिए जन स्मारकों को भी सम्मिलित किया गया है ताकि सम्पूर्ण जन संस्कृति का परिचय कराया जा सके ।

30.2 प्रस्तावना

लोक-कला का उद्भव किस निश्चित समय अथवा अवधि में हुआ, यह कहना अत्यन्त कठिन है । वास्तव में लोक कला का जन्म जनमानस में सर्जनात्मक कला प्रवृत्ति के विकास के साथ ही माना जाना चाहिए । जैसे-जैसे मनुष्य में परिष्कृत रूचि का विकास हुआ वैसेवैसे उसकी सौन्दर्य- दृष्टि में भी निखार आया । उसने अपने आसपास की चीजों को सजा-संवार कर रखना आरम्भ कर दिया । अपने परिवेश के उपादानों को अधिकाधिक नेत्र-रंजक, आकर्षक और सुखदायक बनाने की दशा में

जब आदमी ने अपनी स्वाभाविक कला दृष्टि को काम में लेना शुरू किया तो उसे लोक- कला के आविष्कार की प्रेरणा मिली ।

लोक कला लोकमानस की सर्जनात्मकता का एक पहलू है जो जाति, धर्म, लिंग तथा वर्ग के बंधनों से मुक्त, प्रत्येक आदमी में उसकी अभिव्यक्तिगत गतिविधि के रूप में विद्यमान रहता है । कल्पनाशीलता का आधार पाकर यह पहलू निरन्तर विकसित होता रहता है । लोक कला सदा से ही एक सामुदायिक अभिव्यक्ति के रूप में मुखर रही है जो कठोर परिश्रम और अनुशासन के मध्य विकसित होती है । इसके अन्तर्गत हमें सामाजिक उत्सवों, धार्मिक संस्कारों तथा अन्य विशिष्ट अवसरों पर जन आकांक्षाओं को व्यक्त करने वाली कलाकृतियों के दर्शन प्राय: प्रत्येक अंचल में होते हैं, विशेषत: ग्रामीण अंचलों में जहाँ भौतिक सुविधाओं और मशीनी जिंदगी का वातावरण नहीं मिलता । ग्राम्यांचलों में आज भी परस्पर सहयोग, सद्भावना तथा बहुजन हिताय की सामूहिक भावना मिलती है ।

नामहीनता लोककला की अन्यतम विशेषता है । इसकी प्रकृति भी ऐसी ही है । इस पर व्यक्ति विशेष की छाप नहीं होती । इस कला का प्रवेश जनमानस में इतना गहरा रहा है कि वह लोगों के स्वभाव में घुल गई है । यही कारण है कि लोक-कला सृजन दृष्टि वाले लोगों की पीढ़ी दर पीढ़ी विरासत में प्राप्त हो जाती है । इसकी ' 'ट्रेनिंग' ' के लिए कला के किसी स्कूल या गुरु। के पास जाने की आवश्यकता नहीं होती ।

लोककला न तो प्रकृति की नकल करती है और न उसका यथार्थ रूप ही सामने रखती है । दरअसल यह सामान्य सर्जक की चेतना पर पड़ी छाप को कल्पना और अभिव्यक्ति के स्तर पर प्रतिबिम्बित करती है । यही कारण है कि इसने जनमानस के मध्य पर्याप्त विस्तार पाया है । समाज की धार्मिक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को सहज कलात्मक अभिव्यक्ति देने वाली भारतीय लोक कला का क्षेत्र यद्यपि बहुत विकसित है तथापि मुख्यतया हम इसके दर्शन मांडना मेहन्दीमहावर, गोदना, कपड़ा चित्रण, कागज चित्रण, रंगोली, पात्र चित्रण तथा लोक अलंकरण के कुछ अन्य रूपों में ही करते हैं । ये अलंकरण लोक रंजन और लोक सौन्दर्य की सहज अभिव्यक्तियाँ हैं । जो भारत के अनेक अंचलों का सही प्रतिनिधित्व करती हैं । जैसे -कपड़ों पर चित्रांकन की परम्परा भारत के कई लोक जनजातियों में देखने को मिलती है । जैसे-कालीघाट (बंगाल) का पट चित्रण, उड़ीसा का पट चित्रण, दक्षिण भारत की कलमकारी, मिथिला (बिहार) का मुधुबनी चित्रण और राजस्थान का फड चित्रण अपने आप में लोक-कला अभिव्यक्ति की मिसाल हैं ।

30.3 मांडना चित्रांकन

भारतीय जनजीवन में लोककला विविध रंगों और रूपों में उभरी है । लोककला के विकास में और उसे प्राणवान बनाए रखने में यहीं की कुशल महिलाओं का पर्याप्त योगदान रहा है । लोक जीवन के विविध अंगों को यहीं की नारियों ने कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है । आज भी नारियाँ इन आकर्षक कलाओं को जीवित रखे हुए हैं ।

राजस्थानी लोक अलंकरण का सबसे अधिक विकसित और प्रचलित रूप है । मांडना । राजस्थानी मांडना, बंगाल व आसाम की अल्पना, गुजरात की रंगोली, महाराष्ट्र की रंगावली, बिहार की अरीपना से केवल आंचलिक रूप से ही भिन्न है । साधन और श्रम की दृष्टि से यह कलाएं लगभग एक ही हैं । लोकरंजन और भावाभिव्यक्ति का भी इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है ।

मांडना शब्द संज्ञा और क्रिया दोनों ही रूपों में प्रयोग किया जाता है । मांडना संज्ञा "डिजाइन" या परिकल्पना को व्यक्त करती है और मांडना क्रिया का अर्थ है चित्रित करना अथवा बनाना । वे समस्त आकृतियाँ जो दीवार या जमीन पर खड़िया, गेरू, हिरमिच, पेवड़ी काजल एवं अन्य देशी रंगों के माध्यम से बनाई जाती है, मांडना कहलाती है । ये आकृतियां हाथ की अंगुलियाँ अथवा कूची से बनाई जाती हैं । रेखायें, रंग -टीकियाँ (टपकियाँ) और गांठें इसके चित्रण के प्रमुख माध्यम होते हैं ।

मांडनों की उत्पत्ति व विकास से संबंधित अनेक कथाएँ प्रचलित है, जैसे बहुत समय पहले की बात है एक बूढ़ी विधवा अपने सात पुत्र व छः पुत्र वधुओं के साथ झोंपड़ी में रहती थी । उसके सातवें पुत्र का विवाह नहीं हुआ था । कुछ समय पश्चात् सातवें पुत्र का विवाह एक गरीब व सुन्दर स्त्री से होता है । दिवाली पर उसने अपने घर को धोकर व साफ करके गोबर से लीप दिया और घर के अन्दर बाहर सब जगह सुन्दर-सुन्दर अलंकरण से उसे सुशोभित कर दिया । अलंकरण इतने सुन्दर थे जो इससे पहले किसी ने कहीं नहीं देखे थे । रात्रि में देवी लक्ष्मी जिनके पैर में चोट लगी हुई थी, घर में प्रविष्ट हुई और दिए की रोशनी में घर के अलंकरण को निहारने लगी । पैर में से रक्त निकलने के कारण देवी लक्ष्मी के पैर के निशान उस फर्श पर बन गए । उसी समय सबसे छोटी पुत्रवधु की नींद खुल गई और उसने जब पैरों के निशान जमीन पर देखे तो तुरंत ही उन्हें सुन्दर मांडनों में परिवर्तन करने लग गई । उसने देवी लक्ष्मी को कुछ समय के लिए अपने घर ही बैठने व आराम करने के लिए कहा जब तक कि उसके मांडना पूर्ण नहीं हो जाते । उसकी बात सुन देवी लक्ष्मी मुस्करा दी क्योंकि वे जानती थी कि वह मांडना कभी पूर्ण नहीं करेगी । ताकि लक्ष्मी हमेशा उसी के यहीं विराजमान रहें । देवी उसकी चतुरता से अत्यन्त प्रसन्न हुई और उसे सम्पन्नता, सुख व समृद्धि का आशीर्वाद प्रदान किया तभी से जमीन पर पैरों का मांडना बनाना प्रचलित हो गया ।

होली, दीपावली, दशहरा अथवा अन्य त्यौहारों पर जब समस्त घरों की लिपा-पोती और सजावट की जाती है तब यहाँ की महिलाएँ देहरी, आँगन दीवार या आलों में मांडना की सुन्दर आकृतियाँ बनाती हैं । ये मांडने विविध रंगों और अलंकृत रूपों मे शोभित होते हैं ।

राजस्थान की नारियाँ गार्हर्यस्त जीवन में व्यस्त रहकर भी कलात्मक मांडना की रचना करती हैं । जिनमें उनकी परिवत्रता, मंगल कामना, सौन्दर्यानुभूति तथा कला-साधना की विशिष्ट छाप होती है। राजस्थानी लोक मानस की सहज झलक हमें इन मांडनों में देखने को मिलती है ।

मांडनों में सरल और जटिल दोनों ही प्रकार की रेखाओं का प्रयोग होता है । दरअसल इन आकृतियों में प्रयोग किए जाने वाले रंग और उनकी रचना हेतु बनाई जाने वाली रेखाएँ नारी विशेष की मन: स्थिति का दर्पण होती है । ज्यामितीय आकार

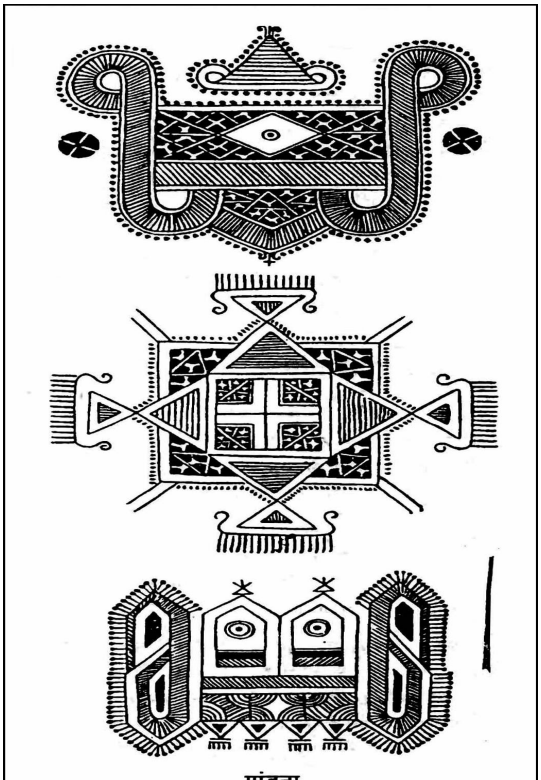

मांडना

जैसे त्रिभुज, आयत, वर्ग, वृत्त, अंडाकार, हीरे का आकार, षटकोण, अष्टकोण, आडी-तिरछी रेखाओं द्वारा एक दूसरे को काटती रेखाएँ, बिन्दु इत्यादि उनके प्रकृति को इंगित करने का माध्यम है । जो उनकी प्रवृत्ति व वातावरण के निरीक्षण ज्ञान को दर्शाते हैं । उपरोक्त आकार इनके प्रकृति प्रेम व सौन्दर्य को दर्शाते हैं । घरों की सुन्दरता में चार चाँद लगाने वाले ये मांडने शुभ शकुन के प्रतीक माने जाते हैं । इनमें गृहस्थ जीवन के सुख और समृद्धि की मंगलकारी भावना अन्तर्निहित होती है ।

मांडने बनाने की कला यहीं की कुमारियों को अपने घर की चतुर व अधेड़ महिलाओं से विरासत में मिली होती है । इसके लिए कन्याओं या नारियों को किसी स्कूल में शिक्षा पाने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि घर में ही इनका चित्रण सीखकर वे इसे अपने - अपने ढ़ंग से चित्रित करती हैं ।

मानवाकृत्तियों का मांडनों में अभाव होता है, कहीं-कहीं श्रवण कुमार या गणेश भगवान का चित्रण, आयत, त्रिभुज या वृत्त तथा रेखाओं द्वारा देखने को मिलता है । जो प्रागैतिहासिक मानवाकृत्तियों जैसे लगता है । ये महिलाएँ इन आकृतियों में यथार्थता दिखाने की कोशिश भी नहीं करती । इनका उद्देश्य तो मांडनों को सुन्दरता प्रदान करना होता है ।

कर्णवत रेखाएँ जिन्हें "चिरन", कर्णवत रेखाएँ, लहरदार रेखाएँ अथवा समतल रेखाएँ वा "भरती ", किनारे के बंध या गाठों को ' 'झावरा " तथा बिन्दु को ' 'जुआ' ' कहते हैं । जिनके द्वारा मांडनों की भराई की जाती है ।

30.4 मेहन्दी महावर

मेहन्दी या महावर रचना एक और नारी के सौन्दर्य प्रसाधनों में गिना जाता है । तो दूसरी ओर यह परम्परा से चली आ रही मांगलिक लोककला भी है । उत्तर-पश्चिम भारत में इसे सुहाग का शुभ चिह्न अधिक माना जाता है । कन्याएं तथा वधुऐं अनेक मांगलिक अवसरों पर मेहन्दी एवं महावर अनुरागपूर्वक रचाती है ।

सौभाग्यसूचक मेहन्दी के मांडने भारतीय महिलाएँ उत्साह और हर्ष के साथ अंकित करती हैं । विवाह के अवसर पर या अन्य खुशी के पूर्व में महावर का रंग उनके हाथ-पाँवों की शोभा बढ़ाता है । मेहन्दी रचाना नारी के सोलह श्रृंगार का एक विशिष्ट अंग माना गया है । राजस्थान में इसका प्रचलन अति प्राचीनकाल से है । प्रारम्भ में जब मेहन्दी उपलब्ध नहीं थी तब नारियाँ लाख को उबालकर उसके रस से पाँवों में कलात्मक बेलबूटों का अंकन किया करती थी । यह रंग अत्यन्त गहरा और सुन्दर होता था । कालान्तर में लाख के रस (लाक्षारस) के स्थान पर मेहन्दी का प्रयोग किया जाने लगा ।

मेहन्दी एक बारहमासी जाड़ होता है जिसकी पत्तियों को छाया में सुखाकर पीसा जाता है और पानी के मिश्रण से लेही के समान बनाकर हाथ और पाँवों में सुहागन महिलाओं तथा कुंवारी कन्याओं द्वारा रचाया जाता है ।

पाँवों में लगाई जाने वाली मेहन्दी प्राय: उतनी कलापूर्ण नहीं होती जितनी हाथों की । मेहन्दी से हाथों में बनाई जाने वाली पानभांत, बेलभांत फूलभांत, सांतिया, त्रिकोण, पंखा, सूरज-चन्दा, चौपड़, मोर, पताशा, कैरी, छल्ला आदि परिकल्पना नारियों के सुकोमल हाथों में बहुत सुन्दर और मनमोहक लगती हैं । मेहन्दी और महावर के मनोहारी रेखांकन राजस्थान में विशेष रूप से सौभाग्यवती महिलाएँ या कुंवारियाँ ही रचाती हैं । विधवा स्त्रियां मेहन्दी नहीं रचाती हैं ।

सौभाग्यसूचक मांगलिक अलंकरण मेहन्दी लगाना कला के साथ-साथ यही एक धार्मिक कृत्य भी माना जाता है । प्रत्येक पर्व के एक दिन पूर्व का भी ' 'सिंजारा " (श्रृंगार) का दिन कहा जाता है । जिस दिन कन्याएँ एवं वधुएँ मेहन्दी का श्रृंगार करती हैं । उत्तम वर की कामना और अखण्ड सौभाग्य की प्रार्थना के लिए लगाई गई मेहन्दी उत्तरी भारत के लोक अलंकरण की एक महत्वपूर्ण रचना है।

30.5 गोदना (अंग चित्रांकन की विशिष्ट कला)

गोदना चित्रण दक्षिण भारत को शेष भारत में लोक अलंकरण की एक विशिष्ट प्रथा है । यद्यपि यह प्रथा यहीं अत्यन्त प्राचीन समय से है तथापि गोदने के चिन्ह यहीं ग्रामीण क्षेत्रों से आने वाली महिलाओं व पिछड़ी हुई जातियों की वधुओं के अंगों पर आज भी देखे जा सकते हैं । भारत के कुछ खास क्षेत्रों में तो प्रत्येक महिलाओं के लिए यह अंकन अनिवार्य सा माना जाता है । यहीं बिना गुदा हुआ नारी शरीर शुभ नहीं कहा जाता और लज्जा का विषय समझा जाता है । किन्तु यह भावना पिछडे हुए क्षेत्रों तक ही सीमित है ।

गोदना अलंकरण के अन्तर्गत अपने इष्ट का चित्र, घड़ी, बेल-बूटे, स्वयं का नाम और बिच्छू आदि का चित्र हाथ की कलाई पर, बिन्दियाँ और रेखाएँ ललाट पर तथा सांतियाँ और टपकियाँ पाँवों में बनाई जाती हैं । इनके अतिरिक्त अपनी इच्छा के अनुसार अन्य आकृतियाँ भी गोदाई जाती है ।

गोदने की क्रिया अन्य लोक अलंकरणों से अधिक स्थाई होती है । गोदने के समय प्राय: शरीर से खून निकल आता है । अंगों में सुई अथवा बबूल के काँटे से आकृति बनाने के बाद उस पर कोयला और खेजड़े के पत्तों का काला पाउडर डाल दिया जाता है । यह पाउडर खून भी सोख लेता है । और अंग में एक स्थाई निशान बना देता है । सूखने के बाद इसमें हर झाँई उभर आती है ।

गोदने की प्रथा सुदूर अरब, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका व पोलीनेशिया आदि देशों में भी विद्यमान है । पिछड़े हुए अंचलों और "रेड इंडियन" कहलाने वाली जाति के लोगों के अंगों पर प्राय: गोदने के निशान पाये जाते हैं । गोदना भारत की पिछड़ी जातियों में प्रचलित महिलाओं एवं पुरुषों का विशिष्ट लोक श्रृंगार है जो समय के अन्तराल के साथ लुप्त प्राय: होता जा रहा है ।

30.6 मधुबनी कला

भारत में लोक संस्कृति और लोक परम्पराओं की जड़ें बहुत गहरी हैं । प्रत्येक राज्य में किसी न किसी रूप में लोक संस्कृति के दर्शन हो जाते हैं । बिहार राज्य के मिथिला क्षेत्र में हमें एक ऐसी लोक परम्परा से साक्षात्कार होता है जो क्षेत्रीय सीमाओं को लांघ कर पूरे देश में अपना कलात्मक प्रभुत्व कायम कर चुकी है । यह है - यहाँ की लोक एवं भित्ति चित्रकला मधुबनी ।

मधुबनी की कला का उद्भव स्थल बिहार राज्य का वह क्षेत्र है जहाँ दरभंगा, मधुबनी, समस्तीपुर, सहरसा, बेगूसराय, कटिहार तथा सीतामढ़ी आदि जिले हैं । यह सम्पूर्ण क्षेत्र मिथिला अथवा "मिथिल" क्षेत्र कहलाता है ।

मधुबनी चित्रांकन की परम्परा का शुभारंभ मैथिल क्षेत्र की महिलाओं दारा हुआ । समाज में प्रचलित अनेक उत्सवों, त्यौहारों और शुभ दिनों में महिलाएँ मिट्टी के रंगों द्वारा घर-बाहर, आँगन-देहरी आदि की लिपाई पुताई के बाद कूची के माध्यम से सज्जा कार्य करती हैं । सज्जा की इस लोक परम्परा से मधुबनी कला का जन्म हुआ । मिथिला क्षेत्र में प्रचलित सांस्कृतिक आख्यानों एवं पुराण

कथाओं को आधार बनाकर दीवारों तथा कपड़े पर की जाने वाली कला मधूबनी कला है । इसके माध्यम से यहाँ की महिलाओं ने लोक संस्कृति की एक विशिष्ट परम्परा कायम की है । (देखिए संलग्र चित्र)

मधुबनी शैली में निर्मित राधाकृष्ण

विषय वस्तु

मधुबनी की कला में विषय का चुनाव प्रसिद्ध महाकाव्य तथा पौराणिक कथारूपों के आधार पर किया जाता है । रामायण, महाभारत, गीता, शिव पुराण, गौरी पुराण, दुर्गा सप्तशती एवं विष्णु पुराण आदि ग्रन्थों से प्रेरणा पाकर के कलाकार शेषशायी भगवान विष्णु, भगवान शिव-पावती, गौरी, राम- सीता, श्रीकृष्ण, सिंहवाहिनी माँ दुर्गा, श्री गणेश व हनुमान आदि के विविध जीवन प्रसंगों को अपनी लोककला के जरिये प्रस्तुत करते हैं । उनके रचना संसार में वास्तविकता के साथ ही एक स्वच्छन्द कला कल्पना का भी सम्मिश्रण पाया जाता है ।

शिव तथा शक्ति को मधुबनी के कलाकार पुरुष व नारी के प्रतीक रूप में प्रस्तुत करते हैं । मछली, चूहे, कछुए आदि पशु पक्षियों को भी चित्रांकन में सम्मिलित किया जाता है । साथ ही पेड़-पौधों को भी दर्शाया जाता है । किन्तु इनका अंकन चित्र की पृष्ठभूमि को सजाने के लिए ही होता है । कोटरों तथा दीवारों पर जो चित्र बनाए जाते हैं उनमें देवी- देवताओं के चित्रों का बाहुल्य होता है । मधुबनी कलाचित्रों में विभिन्न स्थानों पर स्वस्तिक, त्रिकोण, चतुष्कोण, षटकोण आदि भी अंकित किए जाते हैं । अनेक स्थानों पर सिंदूर अथवा सिंदूरी रंग का प्रयोग किया जाता है ।

मधुबनी के चित्र शुद्ध चटख देशी रंगों द्वारा बनाए जाते हैं । इनमें मिथिला क्षेत्र की माटी की गंध पूर्णत: रची-बसी है । अनेक रंग सीधे प्रकृति से प्राप्त किए गये होते हैं । उदाहरण के लिए गैंदे के फूल तथा हल्दी से पीला, जवाकुसुम से लाल व नारंगी, दीपक में बनाए गए काजल से काला तथा सेम के पत्तों से हरा रंग बनाया जाता है । इसी प्रकार अन्य रंगों के लिए भी प्रकृत्ति प्रदत्त

चीजों का सहारा लिया जाता है । बाँस की तीली, रुई तथा सूत के धागों में कूची बनाई जाती है एवं संस्कृति की एक रूपरेखा' ' जो रंग भरने के काम आती है । आकृतियाँ व रेखाएँ इसी कूची से बनाई जाती है । मधुबनी कला का चित्रांकन एक उपसनापरक कला प्रक्रिया है । इसका निर्माण करने वाले कलाकार कोई प्रशिक्षित कलाकार नहीं होते । विशेषकर महिलाएँ इसे घर में ही परम्परागत ढंग से सीखती और सिखाती हैं । मधुबनी चित्रांकन, रंग प्रयोग और इसके प्रभावपूर्ण लोकरूप आज भारत के प्रत्येक राज्य में पसंद किए जाते हैं । विदेशों से आने वाले पर्यटक और भारत के कला निर्यातक मुधबनी को सुदूर देशों तक ले गए हैं । मधुबनी का प्रचार अब क्षेत्रीय सीमा से परे सर्वदेशीय हो गया है । विश्व के कलाप्रेमियों की स्वाभाविक जिज्ञासा और कौतूहल मधुबनी कला के प्रति निरन्तर बढ़ रहा है ।

मिथिला की मनोहारी चित्रकला मधुबनी, रंगों का एक निराला अनुभव है । इसकी स्वाभाविक अनुगढ़ता एवं काल्पनिक लोकाभिव्यक्ति की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि मधुबनी कलाकारों को सभी प्रकार का संरक्षण प्राप्त हो ।

30.7 पेपरमेशी कला

पेपरमेशी वस्तुओं के लिए यद्यपि काश्मीर प्रसिद्ध है । पर अब प्राय: सभी राज्यों में यह वस्तुएँ बनाई जाती है । पहले यह लोक-कला ग्रामीण महिलाओ द्वारा बनाई जाती थी किन्तु अब यह कला बड़े स्तर पर विदेशों तक निर्यात की जाती है ।

पेपरमेशी से वस्तुएँ बनाने में डिजाइन का बहुत महत्व है । यह सर्वप्रथम मिट्टी से तैयार किए जाते थे । किन्तु आज प्लास्टर ऑफ पेरिस से भी तैयार किए जाते हैं । इन्हें माडल कहते हैं ।

ग्रामीण महिलाएँ रद्दी कागज को कम से कम पन्द्रह दिन तक पानी में भिगोकर रखती हैं । इन पन्द्रह दिनों की अवधि में कम से कम दो बार पानी बदल देती हैं । पन्द्रहवें दिन कागज को पानी से निकाल कर अच्छी तरह निचोड़ लेती हैं जिससे पानी निकल जाए । तत्पश्चात् लम्बी से बनी थापी से पीट-पीटकर उसकी लुगदी बना ली जाती है तथा अगर एक किलों रद्दी है तो उसमें आधा किलो मुलतानी मिट्टी, थोड़ा बबुल का गोंद (भिगोया हुआ) मिलाया जाता है तथा थापी से दोनों को एक कर दिया जाता है जिससे आटा की लोई के समान लुगदी बन जाती है । अब इसे ये महिलाएँ मिट्टी या अन्य बर्तनों पर या साँचों पर रखकर दोनों हाथों के अंगूठे से हल्के-हल्के दबाते हुए इच्छित आकार दे देती हैं । कुछ समय धूप में रखने के बाद इसे साँचे से हटा लिया जाता है और उस पर रंगाकन कर सुन्दर बना दिया जाता है ।

काश्मीर की पेपरमशी से निर्मित कला आज भी सरलता से हर स्त्री बना लेती हैं । अब तो इस कला का व्यावसायिक व घरेलू दोनों रूपों में उपयोग किया जा रहा है ।

30.8 पड़ चित्रण

राजस्थान लोक-कला की खान है । लोक परम्परा के कितने ही मनभावन रूप राजस्थान में प्रचलित हैं । यहाँ के जनजीवन में लोक परम्परा को जीवित रखने वाली एक कला है - पट चित्रकला । इसे पड़ चित्रण भी कहा जाता है । छोटे-बड़े कपड़ों पर अंकित की जाने वाली यह कला एक प्रकार की चित्रगाथा है, जिसे यहीं के लोक देवता पाबूजी तथा देवनारायण के जीवन की घटनाओं के आधार पर तैयार किया जाता है । इन्हें पाबूजी की पड़ अथवा देवनारायण या बड़गावतों की पड़ कहा जाता है ।

पड़ एक प्रकार के लोकमंच की शाखा है । क्योंकि जब चितेरे वीर-पुरुषों की यशोगाथा को कपड़े पर अंकित कर चुकते हैं तो पेशेवर भोपे इसे ग्रामीण क्षेत्रों में जन-समूह के समक्ष टांग कर साथ के साथ गाकर सुनाते हैं । पाबूजी की गाथा सुनाने वाले भोपे अलग होते हैं तथा देवनारायण की पड़ बांचने वाले अलग। पाबूजी की पड़ गाने वाले भोपे नायक जाति के लोग हैं जो सम्बन्धित क्षेत्रों में निवास करते हैं । ये उसे अपने लोकवाद्य रावण हत्था के साथ सुनाते हैं । देवनारायण की पड़ को गाकर सुनाने वाले गूजर, जाट, बलाई या कुम्हार जाति के भोपे होते हैं । यह उसे ' 'जेतर' ' नामक लोकवाद्य बजाते हुए सुनाते हैं ।

पट चित्रकला की महत्वपूर्ण शैली को जीवित रखने का श्रेय उन लोगों को है जो परम्परागत ढ़ंग से इसे चित्रित करते आए हैं । इन्हें चितेरा कहा जाता है । पड़ चित्रकला के सिद्धहस्त कलाकारों के अनुसार पड़ को चित्रित करना कोई सामान्य काम नहीं है । पड़ की लम्बाई कोइ पाँच हाथ से लेकर अठारह हाथ तक होती है । इसके लिए सबसे पहले हाथ से ही बना हुआ रेजी का कपड़ा लेना पड़ता है । इस कपड़े को एक विशेष देशी पद्धति से पड़ चित्रण के लिए तैयार किया जाता है । कोरे कपड़े पर पहले गेहूँ का कलफ लगाकर उसे सुखा दिया जाता है फिर आबदार चिकने पत्थर से उसकी घुटाई की जाती है । इस प्रकार चित्रित करने के लिए कपड़ा तैयार हो जाता है जिस पर कोई रंग फैलता नहीं । पानी पड़ने तथा ओस पड़ने पर भी कोई प्रभाव नहीं होता । पड़ चित्रित करने के लिए चितेरे अपने ब्रश स्वयं ही तैयार करते हैं । उनके लिए गाय के कान तथा भैंस की गर्दन के केश प्राप्त करते हैं । इस केशों की कूची बनाने हेतु लकड़ी पर बांधने का कलाकारों का अलग पारम्परिक तरीका है ।

पड़ चित्रकला में रंगों के जरिए छाया प्रकाश नहीं दिखाया जाता । अपितु, रंगों की तानें (शैड) तैयार करके उसे समतल (फ्लेट) तरीके से जिसे टेम्परा पद्धति कहा जाता है, कपड़े पर लगा दिया जाता है । सबसे पहले ब्रश के द्वारा पीले रंग से पड़ का पूरा रेखांकन कर लिया जाता है । पूर्व का खाका तैयार हो जाने के बाद लाल, हरा, नीला एवं गेरूआ रंग लगाया जाता है और आकृतियाँ उभारी जाती हैं । आकृति उभारने हेतु काले रंग का प्रयोग किया जाता है ।

पड़ के प्रयुक्त देशी रंगों को तैयार करना भी अपने आप में एक दुष्कर कार्य हैं । वस्तुत: देशी रंग बनाने की एक विशिष्ट तकनीक है । ये कलाकार पीला रंग पेवड़ी से बनाते हैं, रूत्थई रंग हिरमिच से, नीला रंग नील से तथा लाल रंग पारे की हींगलू से, सिन्दूर रंग हिंगलू तथा हड़ताल के मेल से बनाया जाता है । इसी प्रकार पेवड़ी तथा नील को मिलाकर हरा रंग बनाया जाता है । काला रंग काजल से तैयार किया जाता है ।

उक्त देशी रंगों को आबदार तथा प्रयोग योग्य बनाने हेतु इन्हें लंबे अर्से तक खरल में गोंद मिलाकर उनकी तब तक घुटाई की जाती है, जब तक रंग के दाने घुल नहीं जाते । अंत में थोड़ा नमक मिलाया जाता है ।

पड़ चित्रण के लोकनायक की गाथा

पंचवीरों में प्रमुख लोकनायक पाबूजी, राठौड़ परिवार के एक शक्तिशाली वीर, शरणागतवत्सल एवं वचन पालक व्यक्ति थे । उन्होंने जन सामान्य को राहत दिलाने और उनके जीवन को सामन्ती अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के लिए अनेक लड़ाइयाँ लड़ी और उनमें विजय प्राप्त की ।

पड़ चित्रण के अन्तर्गत पाबूजी राठौड़ की पूर्व विजयों और कई यशोगाथाओं का क्रमबद्ध चित्रांकन लोक रंगों और लोक रूपों में मोटे कपड़े पर या कैनवास पर उजागर किया। जाता है । राजस्थान में पाबूजी के भक्तों और मंदिरों की संख्या कम नहीं है । प्राय: प्रत्येक नगर और कस्बे पाबूजी राठौड़ की यश गाथा को लोकगीत के रूप में गाया और सुनाया जाता है । ये लोक गायक या भोपे "पाबूजी' की पड़ अपने साथ रखते हैं और एक स्थान पर उसे लगाकर उनके जीवन का क्रमबद्ध वृतान्त लोकधुन में गाकर सुनाते हैं । राजस्थान की समृद्ध सांस्कृतिक लोक परम्परा की झलक जिन परम्पराओं में अपने स्वस्थ रूप में देखी जा सकती है, पड़ चित्रण उनमें प्रमुख एवं महत्वपूर्ण है ।

(पड़ का चित्र)

पड़ का प्रचलन आज घरों, होटलों, सरकारी भवनों तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी हो गया ।

30.9 रंगावली

लोककला समूहगत भावना से उपजी कला है । वह किसी की व्यक्तिगत धरोहर नहीं है । वह परम्परा तथा संस्कारों से जुड़ी हुई कला है जो सामाजिक मेलजोल और जनरंजन की भावना का विकास करती है । रंगावली लोककला भी इसी तरह की है । दक्षिण भारत में ग्रामीण प्रतिदिन घर के बाहर

रंगावली का अंकन एक या दो रंगों से करते हैं । त्यौहार व उत्सवों पर ये लोककला सर्जक महिलाएँ विभिन्न रंगों से बहुत बड़ेबड़े आकार के अलंकरण चौक में बनाती हैं । यह अलंकरण विभिन्न प्रकार के फूल-पत्ती व कभी-कभी अन्न के दानों से भी बनाती हैं ।

रंगावली अलंकरण ज्यामितीय की अपेक्षा लयात्मक होते हैं । जिनमें फूल पत्ती का आकार बना होता है । इनमें विभिन्न रंगों से सुन्दरता प्रदान की जाती है तथा इसके चारों ओर महिलाएँ नृत्य करती हैं।

30.10 छाया कठपुतली

ग्रामीण लोककला के रूप में कठपुतलियों का महत्व हमारे आम सामाजिक जीवन में जितना बढ़ा हुआ है, वहीं कठपुतली बनाने वालों की दशा बहुत गिरी हुई है । दक्षिण भारत में चमड़े पर कठपुतलियों का डिजाइन काटा जाता है । इसके लिए वे चमड़े को साफ कर के पारदर्शक जितना पतला कर लेते हैं तब उस पर विभिन्न आकार की कठपुतलियाँ काट ली जाती है । अब इन पर रंगों व वस्त्रों से सजावट की जाती है तथा इन्हें बाँस की खप्पचियों पर चिपका दिया जाता है ।

लोक-कलाकार कठपुतली के खेलों की व्यवस्था रात के समय चौपाल पर किया करते थे । लालटेनों की रोशनी कठपुतलियों के पीछे से डाली जाती है तथा कठपुतलियों के आगे बारीक सफेद कपड़े की चादर तनी रहती थी जिस पर इन कठपुतलियों की छाया नजर आती थी । ये परछाइयाँ नाचती-गाती, उछलती-कूदती दर्शायी जाती हैं । (इस विषय पर लोक नृत्य इकाई में और विवरण भी दिया गया है ।) अत: इन्हें छाया कठपुतली (शेडो पपेट) भी कहा जाता है । दक्षिण की यह लोककला प्राय: लुप्त होती जा रही है जिसे संरक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है ।

(कटपुटली)

30.11 अन्य विशिष्ट लोक- कलाएँ

भारत में कसीदाकारी की कला की समृद्धि की कोई समता नहीं है । उदाहरणार्थ, पंजाब व हरियाणा की 'फुलकारी' की चर्चा सभी दिशाओं में है । फूलों की कसीदाकारी किये गये कपडों की चर्चा

कही समाप्त नहीं होती । कपड़े पर न केवल फूल बल्कि पूरा बाग भी काढ़ दिया जाता है । इसमें सिल्क व कपास दोनों का धागा प्रयोग में आता है ।

इस प्रकार के वस्त्रों को विवाह के अवसर पर पहनने का रिवाज है । इस कसीदाकारी की पृष्ठभूमि में सामान्यत: भूरे या गहरे लाल रंग का प्रयोग होता है । इसी प्रकार गुजरात की 'हीर' या 'काठी' कसीदाकारी का भी अपना आकर्षण हैं । 'काठी' नाम काठ का काठी जनसमूह के कारण पड़ा । जिन्होंने इस कला को विकसित किया । इसमें इस समूह के वीरोचित्त व प्रेम गाथाओं के विवरणों का उल्लेख हुआ है । 'गणेश भगवान' का चित्रण 'स्थापना' के रूप में खूब होकर पूजा के लिए भी प्रयोग में लिया गया है । विवाह के अवसर पर इनका प्रचलन अधिक हुआ है । 'हीर' का नाम रेशम के धागे के नाम के कारण पड़ा है । यह कसीदाकारी त्रिकोण के स्वरूप में अधिक निखरी है तथा इसमें एक ही रंग को हल्के एवं गहरे रूप में अधिक प्रयुक्त किया गया है । इसमें मुख्य रूप कत्थई लाल है जिससे सफेद व काले रंग के बिन्दुओं का प्रयोग किया गया है । इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे कॉच के टुकड़ों (शीशों) को भी जड़ा गया है । इसमें आदिया व फातियों श्रेणी की शैलियाँ भी प्रचलित है । गुजरात में कसीदा किया हुआ कपडा घर को सजाने के लिए प्रचुरमात्रा में प्रयुक्त हुआ है । कसीदा किये गये कपड़ों को एक शुभ प्रतीक के 'तोरण' के रूप में दरवाजों के ऊपर लगाया गया है । राजस्थान भी कसीदाकारी कला का एक उच्च श्रेणी का गढ़ है जिसका विस्तृत विवरण पाठ्यक्रम 3 की सम्बन्धित इकाई में किया गया है । इसी प्रकार बंगाल का कांथा इसी श्रेणी में आता है । इस कसीदेकारी में जहां एक ओर पौराणिक गाथाओं का चित्रण किया जाता है । वहीं दूसरी ओर रोजमर्रा के काम में आने वाली वस्तुओं को भी दिखाया जाता है । कर्नाटक की कसूती की अपनी छटा है । उत्तरप्रदेश की 'चिकन' कसीदाकारी सफेद धागे की कला है । काश्मीर में कसीदाकारी सूई-धागे का कमाल है जिसमें प्राकृतिक छटाओं को खूभ निखारा गया है । 'जलकदोजी' शाल व फर्श पर बिछाने वाले कपड़ों पर किया गया उत्तम कार्य है । 'दूरखा' में दो प्रकार का कार्य किया जाता है और उसमें दो प्रकार के रंगों का प्रयोग किया जाता है । काश्मीर के ' नमदे ' जो गहरे रंगों में विशेषकर लाल व कत्थई रंग में रंगे जाते हैं पर आयताकार व वृत्ताकार कसीदेकारी विशेष आकर्षण का प्रभाव दिखलाती है । आजकल सफेद नमदों पर गहरे रंगों की कसीदाकारी का प्रचलन भी खूब चल पड़ा है । जम्मू -काश्मीर के शालों पर विभिन्न रंगों की ' कानी' कसीदाकारी एक अन्य विशेषण है ।

हिमाचल प्रदेश की 'चम्बा' कसीदाकारी बहुत ही जीवन्त है । वस्तुत हिमाचल की कसीदाकारी उसकी चित्रकला की शैली से प्रभावित है । इस कसीदाकारी का उत्कृष्ट उदाहरण उसके रूमाल है । जो हाथ के रूमालों से बड़े तथा स्कीफ की भाँति है जिन्हें साधारणतया गर्दन के चारों ओर लपेटा जाता है । क्रीम रंग के इन रूमालों पर जो चरित्र प्रस्तुत किये जाते हैं उनके शरीर एवं चेहरों के भाव बहुत गतिशील है । उसके चारों ओर वातावरण को सुसज्जित करने के लिए पेड़ - पौधों, झरनों व नदियों का बहाव, बादल व आकाश के रंग व चन्द्रमा की स्थिति आदि सभी अपनी भूमिका का निर्वाह एक लय के साथ करते हैं । यहाँ तक कि इन रूमालों में रास लीलाओं का चित्रण भी होता है । इसमें रंगों का विभेद बहुत ही शानदार ढंग से किया गया है । मणिपुर में भी कसीदाकारी उनकी वीर गाथाओं से सुसज्जित है । अधिकतम यह कार्य पहनने की लूंगियों के 'बोर्डर' पर किया जाता है । कई बार वृत्ताकार रूप में किया गया कार्य एक अलग ही छटा उत्पन्न करता है ।

यह माना जाता है कि भारत में बने हुए वस्त्र दो हजार वर्ष पहले से ही विश्व के बाजारों पर छाए हुए हैं क्योंकि यह अति उत्तम प्रकार के होते थे । शताब्दियों से उत्कृष्ट बुनाई की कला, रंगने और चित्रित करने की विविध विधियाँ हाथ से बुनने की कला तथा कसीदाकारी का काम होता रहा है । भारतीय वस्त्रों में वाराणसी एवं सूरत में जरी का काम, गुजरात का पटीला, उत्कल का इक्कत, बंगाल का बालूचर, मध्यप्रदेश की चंदेरी और दक्षिण भारत के कोरनाड़ का नाम उल्लेखनीय है । इनमें विविध नमूने हैं और इनमें पूरे तथा आकर्षक स्पांकन उपलब्ध है । रंग एवं डिजाइन भारतीय वस्त्रों की विशेषता है । गुजरात में जाम नगर, राजस्थान में कोटा, सांगानेर, अकोला व जयपुर, तमिलनाडु में मदुरई में बंधेज की रंगाई से जो कपड़े बनाये जाते हैं । वे मनमोहक रंगों एवं डिजाइनों के लिए प्रसिद्ध है । हथकरघा उद्योग के सामाजिक पक्ष की यह दशा है कि भारत के गाँवों में बसे सैंकड़ों निर्धन परिवारों की रोजी -रोटी का साधन है । राजस्थान मे 1.32 लाख बुनकर परिवारों में 85% अनुसूचित जाति व जनजाति से जुड़े हुए हैं ।

30.12 लोक संस्कृति स्मारक

किसी प्रसंग या प्रियजन के स्मरणार्थ स्मारक बनाना आदिवासियों से लगाकर सुसंस्कृत जनों तक एक विश्वव्यापी संस्कार है । यूनान एवं रोम में खेलों में विजय प्राप्त करने पर स्मारक खड़े किये जाते थे एवं युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् तो विश्व की अनेक संस्कृतियों में विजय स्तम्भ बनाये जाते रहे हैं । चित्तौड़ में एक ऐसा ही विजय स्तम्भ है । स्मारक की भावना का अधिक विकास मृत्यु स्मारकों में हुआ । पश्चिमी देशों में टाम्ब (Tomb) के रूप में मध्यपूर्व के देशों में कब्र, मकबरा एवं दरगाह के रूप में एवं भारत में यष्टि, चैत्य एवं स्तूप समाधि के रूप में इनका विकास हुआ । आगे चलकर ये खांमी और पालीया या भोमीया के नाम से जाने गये । लोक संस्कृति व जीवन में ये नाम धरा, धर्म, गाय, स्त्री एवं आनबान के लिए प्राण न्यौछावर कर गये शूर, सती अथवा साधक की वीर पूजा वाली मूर्ति के रूप में ही इन्हें जाना पहचाना जा सकता है । वैसे ऋग्वेद से पितृ पूजा की भावना उभरकर सामने आयी है । दसवें मण्डल का सम्पूर्ण 18वां सूक्त अपने मंत्रों में वीरों की रक्षा करने को कहता है तथा मृतक के आढ़त कुम्भ को मिट्टी में दबाकर उसके ऊपर पत्थर खड़ा करने का आदेश देते है । यह पत्थर अथवा स्थूणा ही एवं उस पत्थर की पाल से ही स्कंभ और उसके खंभों व खांमी तथा पालीया जैसे शब्दों का जन्म हुआ है । कई कबीलों में यह परम्परा पत्थर के स्थान पर लकड़ी के स्तम्भ के रूप में सामने आयी । गुजरात के बड़े भाग में आज भी लकड़ी के पालीये रखे जाते हैं । अगर मृतक सर्प दंश से मरा हो तो उस पर सर्प की कुण्डली बनायी जाती है, यदि वह बाघ के द्वारा मारा गया हो तो बाघ का अंकन होता है और स्वाभाविक मृत्यु से भरा हो तो बहुत सुन्दर चित्रकारी की जाती है ।

पश्चिमी भारत में पालिया को पारिया, वेत्रा, खांभु एवं खतरी कहते हैं । राजस्थान में पालिये को 'देवली' या 'देव कुलिका' कहते हैं । इन पालियों में प्रतीक कब से कोरे जाने लगे यह निश्चित नहीं है । लेकिन 10वीं से 12वीं शताब्दी तक के पालियों में पैदल मनुष्य का प्रतीक देखने में आता है। धीरे-धीरे उनकी वेशभूषा भी उभरने लगती है । वेषभूषा मे धोती, चूड़ीदार पाजामा, अंगरखा एवं पगड़ी युक्त आदमी को दिखलाया गया है । हाथों में ढाल- तलवार है । पालियों में घुड़ सवार का अंकन प्राय: 14 वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है । आदिवासियों में सामान्य रूप से मरने वालों के पालियों में भालाधारी

घुड़सवार की आकृति बनायी जाती है । पालिये का शिरा शंकु आकार का होता है और उसमें सूर्य एवं चन्द्रमा भी दिखलाये जाते हैं । जिस प्रकार आत्मरक्षा के लिए प्रकृति के प्रतीकों की पूजा होती थी, उसी प्रकार मृतक की भी पूजा की जाती थी, जिससे कि मृतक उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न दे ।

कालान्तर में मानव स्व - धर्म, स्वधरा एवं परमार्थ के लिए आत्मभोग देने लगा जिसके परिणामस्वरूप वीरपूजा का जन्म हुआ । सत्कर्म एवं धर्म के लिए प्रेम एवं भक्तिपूर्वक आत्म त्याग करने वालों की पूजा होने लगी । आत्म त्याग भी दो प्रकार के होते थे, एक संघर्ष करके मृत्यु का वरण करना द्वितीय, हठाग्रह करना, कमल पूजा करना, जल समाधि लेना या चिता प्रवेश करना इत्यादि । ऐसे हठाग्रह प्राय: ब्राह्मण, साधु, चारम, बारहठ, रावल, भाट, मीर और फकीर किया करते थे । हठाग्रह में लोग शस्त्र द्वारा आत्म हत्या कर लेते थे । पश्चिमी भारत में भाट एवं चरणों में यह प्रथा थी ।

इन पालियों की परम्परा में शनै:-शनै: सती स्त्रियों के स्मारक भी जुड़ गये । मृत पति के साथ सहगमन करने वाली पत्नियों, कुंआरी सतियों एवं तागा करके आत्म त्याग करने वाली स्त्रियों के सैकड़ों स्मारक भारत भर में फैल गये । वीरगति को प्राप्त करने वालों के पीछे जितनी स्त्रियों सती होती है, उतनी ही स्त्रियों के पालिये रखे जाते हैं । एक ही कुल में अनेक सतियों के होने से उन पर विशाल छत्री बनायी जाती थी । मध्यकालीन पालियों में सती होने वाली स्त्री अपने पति के निकट हाथ जोडे खड़ी रहती है । कच्छ व सौराष्ट्र में स्त्री के पालीये में अधिकतर वरद हस्त ही कुदे होते हैं । पश्चिमी भारत में घरों की दीवारों पर सतियों के हाथ अंकित रहते हैं ।

पश्चिमी भारत पर अनेक विदेशी आक्रमण हुए हैं । तत्पश्चात आन्तरिक संघर्षों ने भी इस क्षेत्र को युद्ध की स्थिति से नहीं उबारा था । इस कारण पालीये व सती स्मारक इन क्षेत्रों में बहु संख्या में पाये जाते हैं । इस संभाग में नाग पूजा का भी अत्यधिक महत्व है । यहाँ नागों के 'थान' काफी संख्या में है । यहाँ यह भी मान्यता है कि शूरवीर लोग वीरगति प्राप्त करके नाग बनते हैं । यह भी मान्यता है कि गाँव की रक्षा नाग देवता करते हैं । इस कारण स्थान- स्थान पर सर्प के अंकन वाले स्तम्भ या खंभे प्राप्त होते हैं । क्षेत्रपाल भी ग्रामरक्षक देवता गिने जाते हैं, अत: इनके पालिये भी गाडे जाते हैं ।

सामान्य लोगों के पालिये तो प्राय: पगपाला ही होते हैं लेकिन शासकीय व वैश्य वर्ग के पालिये रथारूढ़ होते हैं । क्षत्रियों विषयक ' माथा पड़े ' और ' धड़ लड़े ' ऐसी अनेक घटनाएँ प्रसिद्ध है । रूचिकर बात यह है कि पालतू जानवरों के पालिये एवं खामियां भी है । कुछ उदाहरण ऐसे भी आये हैं कि मुस्लिम समाज के पालिये भी है । कच्छ के कितने ही कब्रिस्तानों में पालिये खड़े हैं ।

इस प्रकार वेद कालीन स्मृति स्तूप समाप्त हो गये पर समय के साथ मृत्यु स्तूप बनते रहे । पुराणकाल में यह क्रम चलता रहा । ईसा पूर्व की शताब्दियों में चैत्य व स्तूप बनाये जाते थे। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भी यह प्रथा चालू रही और पाँचवीं-छठी शताब्दी तक तो व्यापक स्तर पर अपनायी जाने लगी । मध्य युग तक शूरवीरों के पालिये एवं राजा-महाराजाओं की खांभी युक्त छत्रियाँ खड़ी होने लगी । पहले के चैत्यों का बाह्याकार पीपल के पान या घोड़े की नाल की भाँति अर्द्ध गोलाकार रहता आया है । मध्ययुग के पालियों में भी उनका ऊपरी भाग बहुधा ऐसा रहता रहा है, किन्तु इनके आकार एवं पालिये की भीतर की कुराई में समयानुसार अन्तर आता रहा है । अधिकतर पालिये एक पत्थर के पूरे आकार में अंकित हो जाते थे । शिखर के उपर अमर कीर्ति एवं सुरक्षा की दृष्टि से सूर्य

एवं चन्द्रमा की जोड़ी होती थी । आजू-बाजू मोर, तोतों की चोखट अथवा पूर्ण रूपेण पुष्पमयी बेल के नालों से फलक को भर देते थे । फिर वीर गति प्राप्त योद्धा एवं उनके अश्व का साज-सज्जा युक्त अंकन होता है । अधिकतर अश्व को उदर्ध्वगति उत्तर की ओर चढता दिखलाता हैं । अश्व का अगला बायॉ पैर उठा हुआ होता है । गले में मालाएँ व पीठ पर सुन्दर काठी होती है । उस पर चढ़ा सवार ढाल, तलवार, धनुषबाण या ऊँचा भाला धारण किये, कमर में कटार बांधे, सिर पर देश कालीन पगड़ी, शरीर पर अंगरखा या बागा व पैरों में जूतियाँ पहने होता है । दाहिना हाथ शस्त्र लिए ऊपर उठा हुआ होता है । वीर पुरुष का मुख अधिकतर ईशान की ओर होता है । पालिये में एक तरफ का मुख नहीं बनाया जाता है । ऐसा इसलिए नहीं किया जाता ताकि उसका देवत्व खंडित न हो जाए । 10वीं से 13वीं शताब्दी के पालियों में द्रविड़ मन्दिर के शिखर की भाँति तीन भूमियाँ देखने को मिलती है । 13 वीं शताब्दी के बाद के पालियों का शिरोभाग त्रिकोणाकार बना है । इस त्रिकोण भाग में सबसे ऊपर सूरज, चन्द्रमा उसके नीचे के चतुष्कोण में वीरगति प्राप्त करने वाले का प्रतीक एवं सबसे नीचे लेख होता है जिसमें मृत्यु को वरण करने वाले का नाम तिथि आदि अंकित होते हैं ।

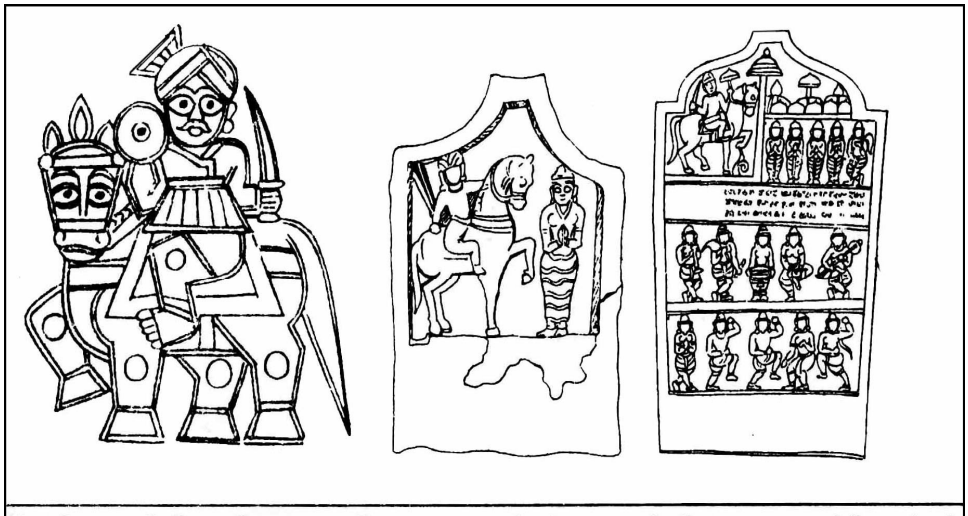

वीर-गति प्राप्त पालियों का प्रतीक पालिया सन् 1485, कोडमदेसर देवली राव कल्याणमल, देवीकुण्ड (राज)

30.13 आधुनिक युग में लोककला का महत्व

संसार की जितनी वस्तुएँ हैं उन सब में एक विशेष गुण पाया जाता है, जिसे हम " उपयोगिता" कहते हैं । अर्थात् ईश्वरीय सृष्टि में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो उपयोगी न हो । यह संभव है कि हम अपनी अल्पबुद्धि और सीमित ज्ञान के कारण पदार्थ के यथार्थ गुण न समझ सकें, क्योंकि अनन्त प्रकृति के अंगणित पदार्थ समूह की विशेषता मानव के सम्मुख प्रकट हो जाना किसी भी विभाजन के द्वारा संभव नहीं है । जिसको जितना ज्ञान प्राप्त हुआ है वह उतने ही पर अपनी सर्वज्ञता समझ बैठता है । जितना ही मानव का ज्ञान बढ़ता जाता है, वह पदार्थ की उपयोगिता को ग्रहण करता जाता है ।

जहाँ प्रकृति में हम उपयोगिता का गुण पाते हैं वहीं हमको एक और प्रकाश की ओर हमारी दृष्टि संकेत करती है । वह प्रकाश है सौन्दर्य । प्रत्येक पदार्थ सौन्दर्य की अनन्त रूप -राशि में निमग्न रहता है । सूर्य, चन्द, नक्षत्र, मालाएँ, वनस्पति और जड़ पत्थरों तक में सुन्दरता का अनन्त कोष छिपा पड़ा है, जो हमें पदार्थ के दर्शनमात्र से आकर्षित कर लेता है । इसलिए मनुष्य की बुद्धि जहाँ

तक जाता है, उसे अपने चारों ओर प्रकृति के अन्तर्पट में निहित उपयोगिता और सुन्दरता ही दिखाई पड़ती है । वह उस पर मोहित रहता है । मनुष्य सौन्दर्य उपासक प्राणी है । इसलिए वह स्वयं भी 'पदार्थो में जो उसके उपयोग में आते हैं, सौन्दर्य प्रदान करने की चेष्टा करता है । जिससे उन पदार्थो के साथ-साथ सौन्दर्य का भी आनन्द लेता रहे । सौन्दर्य में वह तत्व है जो मनुष्य के सुप्त और मृतक भावनाओं को भी जगा देता है । सौन्दर्य की मधुरता ही संसार में जीवन की जटिलताओं को आनन्द का रूप देती तथा आकर्षक बनाती है । वस्तु की उपयोगिता का महत्व सौन्दर्य के योग से प्रकाशमान हो जाता है और उसमें आनन्द का अविरल स्त्रोत फूट पड़ता है ।

लोककला आधुनिक युग में भी इस उद्देश्य की पूर्ति कर रही है । लोककला में लौकिक को अलौकिक रूप देने का गुण है, उपयोगिता की नीरस भावना में रससृष्टि करने की शक्ति है । लोककला में उपयोगिता और रस सौन्दर्य का योग है।

आधुनिक व्यावसायिक सभ्यता के कोलाहल से दूर प्रकृति के करीब रहकर हमारे ग्रामीण लोक कलाकार जिस प्रकार का जीवन जी रहे हैं, वह भौतिक दृष्टि वाले लोगों के लिए आश्चर्य तथा पिछड़ेपन का प्रतीक हो सकता है । किन्तु, आदि मानव से प्राप्त परम्परागत विश्वासों एवं अंधविश्वासों के बीच रहकर वे स्वयं कितने सुखी, कितने संतुष्ट हैं, यह उनकी उन्मुक्त दिनचर्या से ज्ञात किया जा सकता है । उनके बीच न राजनीति है, न भौतिक सुखों की दौड, न कोई प्रतियोगिता है और न किसी को नीचा दिखाने की लालसा । भारत के ग्रामीण आज भी गीत, संगीत, नृत्य, मेलों, त्यौहारों तथा लोकत्सवों का वास्तविक आनन्द उठाते हुए अपना कलात्मक जीवन बिता रहे हैं । ईश्वर की अदृश्य शक्ति पर विश्वास करते हुए अपने पुरखों के वीरतापूर्ण कृत्यों तथा मानवीय आदर्शों की स्मृति को ग्रामीण लोकनृत्य, संगीत तथा कला के माध्यम से उजागर करते हैं । उनकी सभी कलात्मक गतिविधियों से उनके विश्वास तथा अंधविश्वास प्रकट होते हैं, किन्तु वे उनमें इस प्रकार से मगन हो गये हैं कि सब कुछ प्राकृतिक और वास्तविक लगता है । वे चाहकर भी उन्हें नहीं छोड़ सकते, क्योंकि उन्हें छोड़ने का अर्थ होगा ग्रामीण लोकमानस तथा लोक संवेदना से किनारा करना ।

मेलों, त्यौहारों तथा लोक उत्सवों के अवसरों पर बनाए जाने वाले दीवारों एवं फर्श के चित्रों, नृत्य-संगीत के आयोजनों तथा आभूषणों और पहनावे में हमें ग्रामीण लोककला के वास्तविक दर्शन होते हैं । ग्रामीणों की पोशाकें वैविध्यपूर्ण रंगों वाली, विशिष्टता के साथ निर्मित होती हैं । जो देखते ही बनती हैं । उनमें ग्रामीण संस्कृति का उपयोगिता एवं सौन्दर्य का मौलिक स्वरूप मुखर होता है । हाथ-पाँवों में चाँदी के कड़े, लाख का चूड़ा, काँच की चूड़ियाँ, पीतल व ताम्बे के हार तथा उनके अन्य आभूषणों ने आधुनिक नारियों को इतना आकर्षित किया है कि वे फैशन के बतौर उन्हें अपना रहीं है।

जन्म, विवाह, त्यौहारों तथा अवसरों पर दीवारों एवं फर्श पर किया जाने वाला देशी रंगों का चित्रांकन, गतिशील रेखाओं और भाव भंगिमाओं के मांडने लोककला की सौन्दर्य के प्रति खास पहचान कराते हैं । खड़िया तथा माटी के रंगों से बने पेड़, फूल, पशु-पक्षी, पत्तियों और जानवरों के मांडने यद्यपि अनगढ़ होते हैं, किन्तु उनमें ग्रामीण लोक-कला की अनुगूंज सुनी जा सकती हैं ।

बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश अथवा राजस्थान, ग्रामीण कहीं के भी हों, कला उनके जीवन की प्रत्येक गतिविधि में समायी हुई है । उसका अपना महत्व है । व्यावसायिक संस्कृति के पक्षधर ग्रामीण संस्कृति तथा कला परम्परा की नकल तो कर सकते हैं! किन्तु, उसकी मौलिकता, अनुभव तथा उल्लास

को वास्तविक रूप में नहीं जी सकते । आज हमारी यह कला भौतिकता की अंधी दौड़ में गुम होती जा रही है । आवश्यकता इस बात की है कि हम उसके मौलिक स्वरूप की रक्षा करें । उसे अंधेरे में नहीं खोने दें । उसे स्वाभाविक रूप से पनपने दें । जिस प्रकार आज शहरी कलाओं को प्रोत्साहित किया जाता रहा है, उसी प्रकार लोककला को भी प्रोत्साहित किया जाना आवश्यक है । अन्यथा धीरे- धीरे इसका सृजन समाप्त हो जायेगा । लोग उसे भूल जायेंगे । सृजक लोक कलाकार इससे विमुख हो जायेंगे । हमारे लिए यह अपूरणीय क्षति होगी । ग्रामीण लोककला को अपने वास्तविक रूप में जीवित रखकर हम भारतीय कला के इस महत्वपूर्ण अंग की रक्षा कर सकते हैं ।

30.14 सारांश

यदि यह कहा जाए कि लोककला का जन्म कला के जन्म से जुड़ा हुआ है तो गलत नहीं होगा । जब आदमी पशुओं की भाँति गुफाओं में निवास करता था, तब भी लोककला का प्रचलन था । उसके अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं । जब वह अपनी भौतिक जरूरतों से संतुष्ट होने लगा तो कदाचित किसी अज्ञात प्रेरणावश वह अपने गुव्हा निवास को अलंकृत करके नीरसता को कम करने की चेष्टा आरम्भ की । ऐसा करते हुए निश्चित ही उसे संतोष हुआ होगा, जिसे लगातार प्राप्त करते रहने के प्रयास में आगे चलकर उसने बर्तनों, भोजपत्रों व अन्य दैनन्दिन उपयोग की वस्तुओं में बेलबूटों, फूलपत्तों आदि के डिजाइन बनाने आरम्भ कर दिए । आकार या आकृति निर्माण की मन:स्थिति भी तभी बनी। इस प्रकार आदि मानव अपनी संवेदनशीलता एवं अभिव्यक्ति सामर्थ्य के कारण चित्रकला तथा खुदाई के कौशलपूर्ण कार्यो की ओर प्रवृत्त हुआ ।

धीरे- धीरे मनुष्य की चेतना ने सौन्दर्य को एक सामाजिक आवश्यकता के रूप में स्वीकार कर लिया । जिसके कारण फूलों, बीजों, पत्तों, छालों और सीपियों से आगे बढ़कर वह पीतल, चाँदी, स्वर्ण आदि धातुओं के द्वारा बन सकने वाले सुन्दर रूपाकारों की ओर आकृष्ट हुआ । इस दिशा में आदमी के सर्जनात्मक प्रयास उसे अलंकरण की ओर ले गये । परिणाम स्वरूप घर आँगन की दीवारों, अग्रभाग, निवास तथा बैठकों को सजाना, संवारना एक सामाजिक अनुठान बन गया ।

समयान्तर से यह घर आँगन का अलंकरण राजस्थान में मांडना, बंगाल में अल्पना तथा दक्षिण भारत में रंगावली के नाम से अपने वैभव को प्राप्त हुआ । राजस्थानी मांडने में जहाँ दो-तीन रंगों एवं ज्यामितीय रेखाओं की बहुतायत होती है वहीं दक्षिण की रंगावली बहुरंगी, फूल-पत्ती व अन्न के दानों से बनाई जाने लगी । लोककला के सर्जकों ने अपने शरीर को सजाने की नई विधि खोजी जो गोदना के नाम से विख्यात हुई । इस विधि द्वारा इन्होंने अपने शरीर पर अपने नाम अलंकरण स्थाई रूप में अंकित करवा लिए । अस्थाई चित्रण हेतु नारियाँ अपने हाथों व पैरों पर मेहन्दी महावर से अत्यंत सुन्दर फूल-पत्ती, बेलबूटे अंकित करने लगी । गोदना को छोड़ मेहन्दी कला आज भी अपनी समृद्धि के शिखर पर है । जिसे आज शहरी महिलाएँ भी सौभाग्य सूचक मानती हैं ।

लोककला के अन्तर्गत हमें सामाजिक उत्सवों, धार्मिक संस्कारों तथा वीरों की गाथाओं का चित्रण भी राजस्थान में पड़ के रूप में दिखाई देता है जो कि पाबूजी की पड़ व देवनारायण जी की पड़ के नाम से विश्वविख्यात है । जिसमें भौंपे गाकर-नाचकर इन वीरों की, जिन्हें लोग पूजते हैं, यशोगाथा सुनाते हैं । दो व्यक्ति इसकी यशोगाथा का चित्रण जो लम्बे से कपड़े पर अंकित होता है, दिखाते जाते हैं ।

इसी प्रकार रंगमंच से संबंधित दक्षिण की छाया कठपुतली कला भी कलापारखी की भावनाओं, आवेगों तथा हस्तशिल्प का अनूठा योग ' है । लोककला के सर्जकों को अपनी सृजन सामग्री भी स्वाभाविक रूप में मिट्टी और मिट्टी से बने रंग पदार्थों से ही प्राप्त हुई । यही कारण है कि गहरे और प्रचलित रंगों में रंगी हुई रचनाएँ हमें लोककला के अन्तर्गत अधिक मिलती हैं । रंग-कलाकृतियों के गुणों के साथ-साथ मानव चरित्र के भी परिचायक होते हैं ।

सम्पूर्ण विश्व में आज लोक-कला के प्रति लोगों की रुचि बढ़ती जा रही है । विभिन्न देशों में लोक-कला के सम्बन्ध में किया जा रहा शोध कार्य इसकी सादगी, विशिष्टता और गतिशीलता का परिणाम हैं । आज के भौतिक तथा मानसिक तनाव के युग में मन को सुख देने वाली यह सरल लोकरंजनी कला वास्तव में आत्मतुष्टि एवं जीवनी शक्ति के लिए प्रेरणादायक है ।

30.15 अभ्यासार्थ प्रश्न

निम्नांकित प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में लिखें : -.

1. लोककला से आप क्या समझते हैं ।
2. दक्षिण भारतीय लोक कलाओं का वर्णन करें ।
3. पैपरमेशी लोककला कहाँ पाई जाती है । इसे बनाने की विधि का वर्णन करें ।

निम्नांकित प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में लिखें : -

1. लोककला हमारे सामाजिक व धार्मिक जीवन का अटूट अंग है । (निबंध लिखे)
2. राजस्थान की लोक कलाओं का विस्तृत विवेचन करे ।
3. मधुबनी कला व पड़ चित्रण में अन्तर स्पष्ट करते हुए इनके सामाजिक पहलू पर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करें ।
4. पालिया व खांभी के स्थापत्य व संस्कृति पर प्रकाश डालिये ।

30.15 पठनीय प्रासंगिक ग्रंथ

गिलडर्ड आर्चर	: इण्डियन पापुलर पेंटिंग
हेरिट गोल्डस्टेन	: आर्ट इन एवरी डे लाइफ
अमतनाथ व फ्रांसिस विकजर्ग	: दी आर्ट्स ट्रेडीशन ऑफ राजस्थान
एम. ए. शिरिंग	: दी ट्राइब्स एण्ड कास्ट ऑफ राजस्थान
शैलेन्द्रनाथ दे	: रूपरेखा

इकाई 31: भारत में संगीत और नृत्य-ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन

इकाई की रूपरेखा

31.1 उद्देश्य

31.2 प्रस्तावना

31.3 कलाओं में संगीत कला

- 31.3.1 कला की परिभाषा
- 31.3.2 कला के भेद
- 31.3.3 ललित कलाएँ
- 31.3.4 संगीत कला और कलाकार

31.4 संगीत एवं नृत्य कला का ऐतिहासिक रूप

- 31.4.1 भारतीय नृत्य और उत्पत्ति
- 31.4.2 नाट्य, नृत्त और नृत्य
- 31.4.3 ताण्डव और लास्य

31.5 प्राचीन काल के नृत्य

- 31.5.1 शब्द नृत्य
- 31.5.2 चमत्कार नृत्य
- 31.5.3 गीत नृत्य
- 31.5.4 कट्टरी नृत्य
- 31.5.5 बन्धु नृत्य
- 31.5.6 कल्प नृत्य

31.6 संगीत में नृत्य कला और उसके प्रकार

- 31.6.1 भारतीय नृत्य कला का विस्तार
- 31.6.2 कत्थक नृत्य
- 31.6.3 भरत नाट्यम
- 31.6.4 मणिपुरी नृत्य
- 31.6.5 कथकलि नृत्य

31.7 नर्तक, नर्तकी तथा नृत्याचार्य के गुण

31.8 रंग मंच

31.9 ध्वनि एवं संगीत योजना

3.1.10 प्रकाश व्यवस्था

- 31.10.1 चल प्रकाश
- 31.10.2 अचल प्रकाश

31.10.3 रंगीन प्रकाश
31.11 इकाई सारांश
31.12 अभ्यासार्थ प्रश्न
31.13 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

31.1 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य आपको संगीत और नृत्य के ऐतिहासिक व सांस्कृतिक धरोहर की बहुत ही संक्षिप्त जानकारी देना है । इस इकाई का अध्ययन कर लेने पर आपको निम्नलिखित बातों का ज्ञान हो जायेगा-

- संगीत एवं नृत्य कला का ऐतिहासिक रूप
- कलाओं में संगीत कला
- संगीत में नृत्य कला और उसके प्राचीन काल के प्रकार
- आधुनिक काल के नृत्य
- नृत्यों में भाव, वेष-भूषा, रूप सौन्दर्य, पद संचालन
- नृत्य के घराने

31.2 प्रस्तावना

संगीत वह कला है जो व्यक्ति के हृदय में आनन्द का संचार करती है । कला का प्रारम्भ व्यक्ति के भावों को प्रगट करने की अभिलाषा के साथ हुआ । "कला" कलाकार की विषय वस्तु है तथा कला व्यक्ति के भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम है । संगीत में गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों कलाओं का समावेश माना गया है जैसा कि संगीत रत्नाकर में संगीत कला के संदर्भ में एक श्लोक प्राप्त होता है - "गीतं, वाद्यं तथा नृत्रय संगीत मूच्यते । "तीनों कलाएँ स्वतन्त्र होते हुए भी एक दूसरे के आधीन है । नृत्य मानव की अंतःप्रेरणा की कला पूर्ण अभिव्यक्ति है । नृत्यकार को नृत्य की पाँच क्रियाएँ स्थान, चारी, करण, अंगहार और रेचक आदि का पूर्ण रूप से ध्यान रखना होगा । अच्छा नृत्यकार नृत्य के आवश्यक अंग, अंग -संचालन, रसभाव, चारी विधान, विभिन्न मुद्राओं को ध्यान में रखकर कला का प्रस्तुतीकरण करता है । अभ्यास, रियाज ही कलाकार की उन्नति के लिए रामबाण के रूप में कार्य करता है । उदाहरणस्वरूप अहमद जान थिरकवा ने एक-एक दिन में चौदह घण्टे अभ्यास करके आकाश की बुलन्दियों को छू लिया ।

31.3 कलाओं में संगीत कला

आधुनिक युग में "कला" शब्द का क्षेत्र प्राचीन संकीर्ण-परिधि से विमुक्त होकर अत्यन्त व्यापक बन गया है । "कला" शब्द का अर्थ आज तक पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं हो पाया है । "कला" शब्द भारतीय भाषाओं में प्राचीन काल से प्रयुक्त हो रहा है किन्तु ऐसा माना जाता है कि "कला" (आर्ट) शब्द तेरहवीं शताब्दी में लोकप्रिय हुआ । प्रारम्भ में इस शब्द का प्रयोग सत्तरहवीं शताब्दी से इसका प्रयोग व व्याख्या गढ़ता के साथ की जाने लगी । "कला" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में इस प्रकार मिलता है

"यथा कलां यथा शफम् यथा ऋणं सनयामसि"

ऋग्वेद में "कला" शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है वह भिन्न है, इसका सम्बन्ध ललित कला से नहीं है।

उपनिषदों में भी "कला" शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है पर ललित कला से सम्बन्धित अर्थ में इसका प्रयोग नहीं, हुआ है ।

पाणिनी के अष्टाध्यायी और बौद्ध ग्रन्थों में शिल्प शब्द का प्रयोग उपयोगी और ललित दोनों प्रकार की कलाओं के लिए होता था । अष्टाध्यायी में शिल्पी, कारू शिल्पी और चारू शिल्पी उपयोगी और ललित दोनों प्रकार की कलाओं के बाधक हैं ।

31.3.1 कला की परिभाषा

संस्कृत भाषा में कला शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है जैसे ऋग्वेद में चन्द्रमा की कलाओं एवं ब्याज सूद से सम्बन्धित है । संस्कृत शब्दार्थ कोस्तुम (पृ. 308-309), अमर कोष (पृ. 1 -15) व मैदिनी कोष में भी कला का अर्थ चन्द्रमा के सोलहवें अंश से लिया गया है । संस्कृत शब्दार्थ कोस्तुम में कला शब्द ब्याज और सूद के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है । अमर कोष में तीस निमेष (1.4.11) और कला भेद और शिल्प (3,3, 198) आदि भी कला के अर्थ में देखने को मिलते हैं । हेमकोष और इलायुद्ध कोष में कला को शिल्पादि के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है ।

कला के प्राचीन प्रयोग शतपथ ब्राह्मण, साखयायन ब्राह्मण, तैतरीय आरण्यक तथा अथर्ववेद इत्यादि वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं, पर इन में से किसी में भी कार्य कौशल, शिल्प या हुनर आदि के अर्थ में इसका प्रयोग नहीं हुआ है ।

भरत के 'नाट्यशास्त्र" में कला शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ललित कला के रूप में मिलता है:

"न तज्ज्ञानं न तिच्छाल्पं न सा विद्या न सा कला ।

न स योगो न तत्कर्म येन्नाटयेऽस्मिन्न दृश्यते ।"

अर्थात् कोई ऐसा ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है जो इस नाट्य में नहीं दिखाई देता है, तात्पर्य यह है कि नाट्य सभी का समूह है ।

भरत के नाट्यशास्त्र से पूर्व "कला" शब्द का अर्थ ललित कला के रूप में प्रयुक्त नही हुआ । कला का जो वर्तमान अर्थ है इस अर्थ का घोतक शब्द भरत से पूर्व शिल्प शब्द था । ब्राह्मण ग्रन्थों और संहिताओं में "शिल्प" शब्द कला के अर्थ में व्यवहृत होता रहा है ।

1. भरत नाट्यशास्त्र (1 -116)

संस्कृत शब्दार्थ :- कौस्तुम के अन्तर्गत कला शब्द की व्युत्पत्ति "कल्" धातु से व अच् प्रत्यय तदनन्तर स्त्री लिंग शब्द बनाने के लिए टाप् प्रत्यय हुआ है । इस प्रकार क्ल्+अत् (अ) टाप् (आ) के संयोग से "कला" शब्द बना है ।

नालन्दा विशाल सागर शब्द कोष के अन्तर्गत भी कला शब्द तैंतीस विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । वेबस्टर न्यू ट्वण्टीयथ सेन्चुरी शब्द कोष में कला के अर्थ के सम्बन्ध में लिखा है कि किसी भी चीज को व्यक्ति की कुशलता के द्वारा परिवर्तित रूप प्रदान करना कला है । सृजनात्मक कार्य, चित्रकारी, वास्तुकला, स्थापत्य कला, संगीत, नाटक एवं नृत्य को कला माना है ।

उपरोक्त सभी "कला" की परिभाषाओं में विशेषत: आप्टे के संस्कृत कोष में "कल्" का अर्थ निर्माण मना या रचना अथवा सम्पन्न करना आदि से लिया गया है किन्तु कला शब्द की व्युत्पत्ति विहानों ने अनेक प्रकार से की है । कला की मूल धातु 'कल्' जिसका दूसरी और संख्या 'न' अर्थ माना है जिसका अर्थ स्पष्टवाणी में प्रकट न होता है ।

प्लेटो (428 बी. सी. से 347 बी.सी.) की यह मान्यता थी कि कलाकार वस्तु जगत के पदार्थो का रचयिता नही होता वह केवल उन पदार्थों का प्रतिकृति ही बना पाता है । अत: कला कोई स्वतन्त्र रचना न होकर सत्य की अनुकृति मात्र है । अरस्तु (384 बी.सी. से 322 बी.सी.) उसे अनुकरण कहते हैं । समस्त कलाओं में कलाकार मात्र अनुकरण ही नहीं करता बल्कि कल्पना का समावेश कर व्यक्तित्व का परिचय प्रस्तुत करता है । हीगल ने कला को आधिभौतिक सत्ता को व्यक्त करने का माध्यम माना है । क्रोचे की दृष्टि से कला बाह्य प्रभाव की अभिव्यक्ति है । हरबर्ट रीड ने कला को अभिव्यक्ति का रंजक स्वरूप माना है । टॉलस्टॉय के विचाराधीन कला केवल मर्मज्ञ के लिए न होकर जन साधारण के लिए है । कला वही है जो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय को छूती है । टॉलस्टॉय कला में व्यापक गुण की अपेक्षा करते थे ।

कला का उद्‌गम सौन्दर्य की मूलभूत प्रेरणा से हुआ है । सौन्दर्याभिरुचि का प्रमाण मनुष्य की अनुकरण प्रवृत्ति है । प्रकृति का अनुकरण और अतिक्रमण मानव की सर्वोपरि चेतना है । प्रकृति के रमणीय दृश्य जैसे : सूर्योदय, सूर्यास्त, मानव-मन को आनन्द से भरते रहे हैं । इन दृश्यों का वह स्वत: भी निर्माण करे ऐसी इच्छा मनुष्य के मन में जागृत हुई । कोकिल के पंचम स्वर ने उसे संगीत की प्रेरणा दी । इसी प्रकार निर्झर ने उसे नृत्य के लिए अग्रसर किया । दुर्दम्य शत्रुओं के पराभव के उपरान्त अपने उल्लास को प्रकट करने के लिए अथवा देवी का कृतज्ञता में बलिदान के अवसर पर मनुष्य सामूहिक नृत्य गीत- अभिनय के आयोजन से नाट्य कला को जन्म मिला । कला मे क्षोभ और श्रम का परिहार है, मन का रंजन और उद्‌बोधन है, विगत अनुभवों की सुखद पुनरावृत्ति है, यह जब मनुष्य ने जाना तभी तो आकांक्षा, मधुरकला की निर्मित हुई ।

कला प्रस्तुतीकरण में कलाकार को एक विशिष्ट आनन्द की उपलब्धि होती है और आनन्द प्रदान करना ही कला का उद्देश्य है ।

31.3.2 कला भेद

वात्स्यायन ने अध्याय तृतीय " अधविद्‌यासमुद्देश प्रकरण नामक: " के अन्तर्गत चौंसठ प्रकार की कला बताई है ।

प्रबंध कोष में कलाओं की संख्या 72 लिखी हुई है । क्षेमेन्द्र की लिखी हुई पुस्तक' 'कला विलास " में सर्वाधिक 382 कलाओं के नाम दिये गये हैं । (इकाई सं. 28 में चौसठ कलाओं की सूची दी गयी है) ।

वात्स्यायन की कला सूची मे काव्यस मस्यापूरणम ' 'काव्यक्रिया ", " क्रियाकलाप' ' और मानसी जैसी काव्य कलाओं की नामावली है । किन्तु अनेक प्राचीन एवं आधुनिक विद्‌वानों के मत से काव्य साहित्य है, कला से वह पृथक है जैसे आचार्य शुक्ल तथा प्रसाद ने भी काव्य को केला नहीं माना है । साहित्य संगीत कला विहीन (भर्तृहरि) रसात्मक वाक्य काव्यम् (साहित्य दर्पण) काव्यं

यथसेSर्थकृते व्यवहार विदेश्वितेर ज्ञायते । सथ: सथ: परनिर्वृत्य क्रान्तासाम्मिततयोपदेशगुभुजे।। (काव्य प्रकाश)

31.3.3 ललित कलाऐं

कलाओं मे ललित कलाओं का एक विशेष स्थान है । इनके अन्तर्गत वास्तुकला, मूर्तिकला चित्रकला, काव्यकला और संगीत कला को रखा गया है । इनका काय मनुष्य के उपयोग की वस्तुएँ बनाना नहीं है बल्कि इनका एक मात्र प्रयोजन उनसे आनन्द प्राप्त करना है । ललित कलाओं में हमें कोइ भौतिक सुख प्राप्त नहीं होता किन्तु मन तथा मस्तिष्क को असीम आनन्द सुख, शान्ति मिलती है और उत्साह, प्रेरणा तथा प्रफुल्लता प्राप्त होती है ।

कला को "उपयोगी कला" और "ललित कला" इन दो भागों में विभाजित किया जाता है और यह माना गया है कि उपयोगी कला व्यवहार में उपयोजित होती है तथा ललित कला मन के संतोष के लिए है और उसमें उस विशिष्ट मानसिक सौन्दर्य की योजना है, जो उपयोगितावाद से भिन्न है । पाश्चात्य विद्वानों में कला सम्बन्धी वगीकरण मुख्यत: अरस्तु, कांट, हीगल, स्पेन्सर, ब्राउन लैस्सिंग के प्राप्त होते हैं । प्लेटो व अरस्तु ने उपयोगी कला और ललित कला इन दो भेदों का आधार अनुकरण माना है ।

हीगल ने विकास क्रम के आधार पर कला को तीन वर्गो में विभाजित किया :

1. प्रतीकवादी (वस्तु)
2. शास्त्रीय (मूर्ति)
3. रोमानी (काव्य, संगीत, चित्र)

क्रोचे का कहना है कि कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है तथा जिस कला को व्यक्त करने का माध्यम जितना स्थूल होगा उतना ही वह निम्न स्तर की मानी जायेगी और इसके विपरीत जिस कला का माध्यम जितना सूक्ष्म होगा वह उतनी ही उच्च स्तर की मानी जायेगी । इसीलिए संगीत कला को जिसका माध्यम स्वर है, माध्यम की सूक्ष्मता के कारण सर्वश्रेष्ठ कला माना गया है । भारत में प्राचीन काल से ही संगीत का महत्व बहुत अधिक रहा है । ऋषिमुनियों तथा महान् सत कवियों ने संगीत को आध्यात्मिक और मानसिक विकास का साधन बनाया । परमात्मा के सदृश विश्व के कण-कण में संगीत भी व्यास है, इसका प्रभाव जड़ और चेतन दोनों पर समान है। संगीत के प्रभाव से व्यक्ति तो क्या हिंसक पशुओं को भी वश में किया जा सकता है।

31.3.4 संगीत कला और कलाकार

संगीत में गीतं वाद्यं तथा नृत्रं त्रय संगीत मुच्यते । ।

तीनों कलाएँ एक दूसरे से स्वतन्त्र है किन्तु स्वतन्त्र होते हुए भी गायन के अधीन वादन तथा वादन के आधीन नृत्य है, और इन सभी में गीत प्रधान होने के कारण गायन को सर्वश्रेष्ठ माना गया है । गायन के लिए इस साहित्य में "गीत" संज्ञा प्राप्त होती है ।

व्यक्ति प्राचीन समय से ही आनन्द तथा सौन्दर्य की खोज में लीन रहा है । आनन्द तथा सौन्दर्य की सुन्दरम अभिव्यक्ति ही कला है और अभिव्यक्तिकार " कलाकार" कहलाता है । हृदय पर अंकित सौदर्यमयी भावनाओं को कलाकार विभिन्न रूपों द्वारा अभिव्यजित करता है । "कलाकार" होने

के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति कला में सिद्धहस्त हो । मधु -भक्षिका जैसे पुष्पों से मधु संचय करती है वैसे ही कलाकारों को भी संगीत कला प्राप्त करने में अनगिनत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, तब ही वह उसमें पारंगत हो जाते हैं ।

जिस प्रकार पर्जन्यराम वर्षा करके प्यासों की प्यास बुझाता है इसी प्रकार संगीत का कलाकार अपनी कला द्वारा रसिक जनों को गायन वादन सुनाकर उन्हें तृप्त करता है । एक ओर स्वामी हरिदास जैसे अनेक श्रेष्ठ संतों ने संगीत कला के दास अध्यात्मिक उन्नति की तो दूसरी ओर तानसेन जैसे श्रेष्ठ कलाकारों' ने संगीत प्रेमियों को संगीत का रसास्वादन करवाया ।

31.4 संगीत एवं नृत्य कला का ऐतिहासिक रूप

नृत्य हमारे देश की अति प्राचीन कला है, इसकी उत्पत्ति का इतिहास पौराणिक ग्रन्थों में छिपा हुआ है । पुराणों के अनुसार "नाट्य" को पाँचवा वेद माना गया है, जिसके रचयिता स्वयं ब्रह्मा माने जाते हैं । देवताओं के अति आग्रह से ब्रह्मा ने ऋग्वेद से “शब्द", सामवेद 'से "संगीत", यजुर्वेद से "मुद्रा" और अथर्ववेद से " स" ग्रहण कर पंचम वेद "नाट्य-वेद" की रचना की ।

31.4.1 भारतीय नृत्य की उत्पत्ति प्रथम ध्वनि (नाद) या धर्म से सम्बन्धित भगवान शिव के डमरू से निकली संगीतात्मक ध्वनि के द्वारा मान सकते हैं । इस शास्त्रीय नृत्य ने भारतीय अन्य कलाओं पर अपना प्रभाव डाला है चाहें वह वास्तुकला हो या भाषा हो । नृत्य और गान को हमारे यहीं मोक्ष प्राप्ति का श्रेष्ठतम साधन माना गया है द्वारिकता महात्म्य में लिखा है -

"योनृत्यति प्रहष्टात्मा भावैरत्यन्तम भक्तित: ।

सनिर्दहति पापानि जन्मान्तर शतैरपि ।"

अर्थात् जो प्रसन्न चित्त से, श्रद्धा और भक्ति पूर्वक भावों सहित नृत्य करते हैं वे जन्मजन्मान्तरों के पापों से मुक्त हो जाते हैं ।

भरत के नाट्य शास्त्र में नृत्य का सर्वोत्तम रूप दिखाई पड़ता है जिसके विकास का प्रयत्न नन्दिकेश्वर, कोहल, दत्तिल, मतंग, अभिनव गुप्त एवं शारङ्ग्म देव जैसे आचार्यों ने अपने - अपने ग्रन्थों में किया है । दूसरी और राजाओं के द्वारा इस कला का प्रत्यक्ष रूप अनेक मन्दिरों की प्रचारों में अवतीर्ण हुआ है ।

शब्द नृत्य, चमत्कार नृत्य, गीत नृत्य, ध्रुवपद नृत्य, शब्दावली नृत्य, पिल्लमूरु नृत्य तथा चित्र नृत्य आदि कुछ ऐसे प्राचीन नृत्य थे जिनके लक्षण वर्तमान कत्थक नृत्य से पर्याप्त मात्रा में हैं । कुछ काल तक नृत्य के साथ प्रहसन एवं नट और भाटों द्वारा प्रस्तुत मनोरंजक क्रियाएँ भी सम्बद्ध रूप से चलती रही 1

"कामसूत्र" में नृत्य गोष्ठियाँ और नागरक वृत्त का उल्लेख मिलता है । कालिदास के मालविकाग्निमित्र (अध्याय 1-3) के अनुसार गुप्तकाल में नृत्य प्रतियोगिताएँ संगीत शालाओं में होती थीं । वसुदेव हिन्दी ग्रन्थ में पृष्ठ 460 पर नाट्य शब्द का प्रयोग नृत्य के लिए किया गया है कहा है कि बर्बरी और किरात आदि जाति की दासियाँ संगीत और नृत्य में बहुत कुशल होती थी।

“नालिकागलक” नृत्य में जलघड़ी के अनुसार नृत्य चलता था पानी समाप्त होते ही नृत्य समास हो जाता था और उसी पानी से नाट्यचार्य नर्तकी को स्नान कराता था। सूची-नाट्य में प्रेक्षणागृह में सुई के ऊपर इस तरह से नृत्य होता था कि सुइयाँ अपनी जगह से नहीं हटती थीं । आजकल कई लोक

नृत्य प्रदर्शन करते हैं । सिर तथा दोनों हाथों से ऊपर घड़ों की पंक्ति रखकर शास्त्रीय पद्धति से नृत्य करते हुए नटनियों के प्राचीन चित्र भी उपलब्ध होते हैं । "चलित" नामक एक नृत्य का विवरण भी प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है । स्वर्ग लोक में पुरुखा ने रम्भा अप्सरा को 'चलित" नामक नृत्य-नाट्य करते देखा था । "चलित" में चरण चारियों (चालों या गतों) का प्रयोग बहुत होता था, वेशभूषा इसकी वैदिक थी । अजन्ता की गुफाओं (7वीं शताब्दी) में "चलित" नृत्य करते हुए कुछ चित्र प्राप्त होते हैं । जिनसे मुगलकालीन कत्थक नृत्य काफी प्रभावित है । भारतीय नृत्य ही नहीं बल्कि संसार के प्रत्येक नृत्य में पदाघातों का विशेष महत्व है । भारतीय नृत्यों में पदसंचालन सर्वाधिक महत्व की वस्तु है । पदाघात और पगसंचालन दो अलग बातें हैं ।

प्राचीन काल में 'भरत' एक गोत्रवाची संज्ञा हो गई थी जो नटों के लिए प्रयुक्त की जाती थी । अभिनय करने वाले को नट, केवल नृत्य करने वाले को नर्तक और मुख्य रूप से नृत्य दिखाकर गाने वाले को कुशीलव या कृशाश्व कहते थे । जो गीत गाता था उसे शैलूष या शिलाली और जो केवल नृत्य करता था उसे सूत कहते थे । भाट, चारण, मागध, बन्दीजन और भाण आदि भी नटों के प्रकार थे जो विएशेष अवसरों पर प्रशंसा, स्तुतिगान करने तथा अन्य मनोरंजक करतब दिखाने के लिए राज्य की ओर से नियुक्त किये ।

31.4.2 नाट्य, नृत्त और नृत्य

अभिनय के द्वारा किसी वाक्य के अर्थ को प्रगट कर रस उत्पन्न किया जाता है उसे नाट्य कहते हैं । दैनिक जीवन के समस्त क्रिया कलाप नाट्य है । क्रोध, स्नेह, सुखदुख आदि मन के भावों को अडंग चेष्टाओं द्वारा प्रगट करना अथवा किसी बात का अनुकरण अभिनय की श्रेणी मे ही आता है जो नाट्य शास्त्र के अनुसार आंगिक, वाचनिक, अहार्य और सात्विक चार प्रकार का कहलाता है । शरीर के अवयवों द्वारा जब कोई भावना स्पष्ट हो जाती है जैसे ' 'कहिये, कहीं जा रहे हैं । " यह आंडिंगक अभिनय कहलायेगा । स्वर और वाणी के द्वारा भावनाओं को प्रगट करना वाचिक अभिनय कहलाता है । नाटक में सम्भाषण और गीत द्वारा जो भाव प्रगट किये जाते हैं वे वाचिक के अन्तर्गत ही आते हैं । वस्त्रों द्वारा शरीर को सजाकर जब किसी देवी देवता या विशेष व्यक्ति की नकल की जाती है तो उसे अहार्य कहते हैं ।

अनुकरण करके जब किसी सुख-दुःख या विशेष भाव द्वारा कोई प्रदर्शन किया जाता है तो वह भाव सात्विक अभिनय कहलाता है । उदाहरणार्थ कामदेव के ऊपर अप्रसन्न होकर भगवान शकर का क्रोधित होकर कठोर वचनों द्वारा उसे शाप देना आदि ।

ताल और लय के साथ हाथ-पैर चलाने को नृत्त कहते हैं इसमें भावनाओं के प्रदर्शन का कोई महत्त्व नहीं होता केवल लय के साथ अंगों का चलना आवश्यक होता है ।

जब नाट्य और नृत्त दोनों मिल जाते हैं तो वह नृत्य बन जाता है । किसी एक ही शब्द का अभिनय जब ताल और लय के साथ किया जाए तो वह नृत्य कहलाता है ।

31.4.3 ताण्डव और लास्य

जिस नृत्य में वीर रस का प्रदर्शन होता ' है उसे ताण्डव कहते हैं और जिसमें श्रृंगार रस प्रधान होता है उसे लास्य कहते हैं । एक कथा के अनुसार त्रिपुरासुर का वध करने के लिए भगवान शंकर

ने वीर रस प्रधान नृत्य किया और जब राक्षस का वध हो चुका तो उसके हर्ष में पार्वती ने लास्य नृत्य किया । ताण्डव नृत्य पुरुषों के लिए अधिक उपयुक्त है क्योंकि उसमें कुछ ऐसे आहारों का प्रदर्शन किया जाता है जो स्त्री तारा किये जाने पर असौन्दर्य की सृष्टि कहते हैं । स्त्री श्रृंगार और कोमलता का प्रतीक है इसलिए उसके द्वारा केवल लास्य नृत्य का प्रदर्शन ही लोकरंजक होता है ।

वैसे लास्य और ताण्डव, स्त्री-पुरुष दोनों के द्वारा किए जा सकते हैं । ऐसा माना जाता है कि शिव के गण तराडु ने ऋषियों को ताण्डव की शिक्षा दी और ऋषियों ने उसे मनुष्यों में प्रचलित किया । पार्वती ने बारासुर की पुत्री उषा को लास्य नृत्य सिखाया । उषा ने द्वारिका में आकर उसका प्रचार किया और द्वारिका की स्त्रियों द्वारा यह नृत्य सौराष्ट्र में पहुँचा जहाँ से अन्य देशों की स्त्रियों ने भी ग्रहण किया । लास्य के सम्पूर्ण अंगों का प्रदर्शन करने के लिए भगवान श्री कृष्ण ने रास मण्डल की स्थापना की । रास के अन्तर्गत अनेक प्रकार के नृत्यों का जन्म हुआ । रास नृत्य को "हल्लीसक" भी कहते थे । इसमें गीत, वाद्य, नृत्य और अभिनय सभी का समावेश था । आजकल भरतनाट्यम, कथकलि, मणिपुरी तथा कत्थक नृत्य की जो शैलियाँ प्रचलित हैं वे सभी रास नृत्य से निकली है ।

नृत्य या नृत्त की संज्ञा जब हम किसी कला को देने लगते हैं तो उसके आशय से भी तुरन्त अवगत हो जाते हैं कि इस प्रकार की जो भी कला होगी, वह आँखों द्वारा आनन्द प्राप्त करने वाली होगी । वीर, वीभत्स, रौद्र और अद्भुत आदि रसों से मुल उद्यत नृत्य ताण्डव और श्रृंगार प्रधान कृतियों से आवेष्टित नृत्य लास्य समस्त सृष्टि में प्रचलित हुए, जिनसे नृत्त व नृत्य के अनेक भेद और उपभेद लोक में प्रचलित हुए ।

31.5 प्राचीन काल के नृत्य

नाट्यशास्त्र, संगीत दर्पण, संगीत रत्नाकर, नृत्यरत्नकोष आदि अनेक ग्रन्थों में प्राचीन काल के नृत्य वर्णित है । कुछ नृत्यों का वर्णन यहाँ किया जा रहा है ।

31.5.1 शब्द नृत्य- शरीर के अंगों द्वारा स्वर, नेत्रों द्वारा भाव, पैरों द्वारा ताल व लय और शब्द के अक्षरों को प्रदर्शित द्रुतगति से करें । शब्द और स्वरों का उच्चारण करें । चतुरस्त्र बनाकर एक हाथ को शिखर मुद्रा में कर लें फिर एक हाथ नाभि पर रख लें और दूसरा उर पर रखकर फिर दूसरे हाथ से पताका मुद्रा बना लें, इसके बाद सम पर आकर सुन्दर मुद्रा बना ले । अब एक पैर को आगे की ओर सूची मुद्रा में कर ले और दूसरे पैर को पीछे ले जाकर अंचित कर लें । हाथों को पैरों के समान चलाएँ । एक पैर से व्यावर्त्त करे और दूसरे पैर को पीछे ले जाएं । हाथों की शिखा मुद्रा बहनाकर उन्हें नाभि तथा उससे कुछ ऊपर ले जाएँ । यह शब्द नृत्य दो प्रकार का होता है, एक अक्षर तथा दूसरा स्वर प्रधान ।

31.5.2 चमत्कार नृत्य - जहाँ दोनों हाथ मिले हुये हों तथा अक्षरों की प्रधानता हो, गारुभि नाम की ताल हो चारों ओर नृत्य किया जाए उसे चमत्कार नृत्य कहते हैं ।

31.5.3 गीत नृत्य - गीत और ताल के अनुसार आदि वर्ण दिखाते हुए नर्तक, सुन्दरता से नृत्य करें । जिस गीत पर नृत्य करे उस नृत्य का नाम गीत के नाम पर ही रख दें । स्थायी आदि वर्णों को अंगों से और भावों को उपग्यों सेर पदवाक्य से उत्पन्न ताल ग्रहों को हाथों एवं सम को पैरों द्वारा प्रदर्शित करें ।

31.5.4 कट्टरी नृत्य-उडुक वाद्य का वादन होते हुए नान्दी रंग में प्रवेश करें और ऑचल को पकड़कर नृत्य का अभिनय करे । लास्य अंग युक्त शब्दों से, आलाप से, एवं अंगों से साक्षात् राग मूर्ति का प्रदर्शन करते हुए नान्दी अभिनय करे । राग मूर्ति जैसा विविध लास्य लीला से मनोहर विविध नृत्य करे तत्पश्चात् बीच -बीच में "पिल्लमुर" नृत्य करे । इसके बाद हाव भावों द्वारा लय ताल के अनुसार कोमल अंगों द्वारा नर्तन करें । इसके पश्चात् वाद्याक्षरों से निर्मित ध्रुव गति द्वारा नृत्य करें । फिर पिल्लमुरु पदी से विधिपूर्वक नृत्य करें फिर शब्दाक्षरों द्वारा वीना, मृदंग आदि के साथ यथोचित नृत्य करें । कहीं -कहीं पदों की एक-एक आवृत्ति भी होती रहे । आलाप, धरु, सूलूष, स्वर, पट्टी तथा पद सहित नृत्य कट्टरी नृत्य कहलाता है । इसके दूसरे नाम बंधना, मल्लिकामोद, अद्री और तुडुक भी कहे गये हैं ।

31.5.5 बन्ध नृत्य-इसमें स्त्रियों की प्रधानता होती है । जहाँ 2 से 5 तक रमणीय पात्र परस्पर सटकर हाथों और पैरों से पैर मिलाकर कारणों का प्रयोग करें उसे बन्ध नृत्य कहते हैं ।

गरासिया युवती नृत्य करती हुई

31.5.6 कल्प नृत्य-किसी इच्छित स्थान का आश्रय लेकर प्यास विधि करें । बहुधा गीत और नृत्य में कल्प और ताल की प्रधानता मानी गई है क्योंकि इनके बिना नृत्य सर्वा, सुन्दर प्रतीत नहीं होता । कल्प का अभिप्राय उस शब्द से है जो आदि से अन्त तक पद को रंजक करता रहता है जैसे "हे रामा" आादि । इनके अतिरिक्त ध्रुव नृत्य, विनोद नृत्य, कम्बुज नृत्य, नामावली नृत्य., गोण्डली नृत्य, पेरणी जवकरी नृत्य, चिन्दु नृत्य, रूपक नृत्य, सालगसूड नृत्य, रास नृत्य तथा लाग नृत्य आदि अनेक प्राचीन नृत्य हैं ।

31.6 संगीत में नृत्य कला और उसके प्रकार

संगीत गतिशील कला हे जो प्रतिक्षण व्यक्ति पर प्रभाव डालती है, इसीलिए संगीत कला में श्रोता, दर्शक का संबंध कला की सृष्टि के हर स्तर से बना रहता हैं ।

31.6.1 भारतीय नृत्य कला का विस्तार नाट्य-वेद में हुआ है ।

भरत मुनी द्वारा "नाट्यशास्त्र" में नृत्यकला को विस्तारपूर्वक समझाया गया है । भारत के अलग- अलग प्रान्तों में शास्त्रीय आधार पर जिन तत्वों को ग्रहण किया गया, उनमें शास्त्रीयता के साथ-साथ लोक तत्वों के मिश्रण से एक नई शैली का जन्म हुआ और उसी के आधार पर लोक में सर्वाधिक प्रचलित सशक्त नृत्य-विधाएँ भारतीय नृत्यों के नाम से जानी जाने लगी, जैसे -उत्तर भारत का "कत्थक" दक्षिण भारत का "भरत नाट्यम", आसाम का "मणिपुरी" मालाबार का कथकलि, आंध्र प्रदेश का कुचिपुड़ी और उड़ीसा का ओडिसी नृत्य ।

31.6.2 कत्थक नृत्य

सर्वप्रथम "कत्थक" नृत्य का नाम "नटवरी" नृत्य था । श्रीकृष्ण नटवर कहलाते हैं । सम्भवतः नटवरी नाम इसी से संबंधित रहा । कृष्ण कन्हैया के नृत्य को आरती के पश्चात् माचशं में प्रदर्शित क्रिया जाता था और यह नटवरी नृत्य कहलाता था । इन लीलाओं को एक विशेष नाम की जाति कत्थक (कथन करे सो कत्थक कहिये) मन्दिरों में प्रस्तुत किया करते थे । महाभारत तथा नाट्यशास्त्र में भी कथक शब्द मिलता है । यहीं से इन नृत्य के साथ कत्थक शब्द जुड़ गया और यह कत्थक नटवरी नृत्य कहलाने लगा । सप्तक्षेत्री रास नामक ग्रन्थ में वर्णन है कि तालराम और लकुट रास को भाट लोगों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है ।

मुगल काल में मुगल सभ्यता का सबसे अधिक प्रभाव उत्तरी भारत पर पड़ा और इस प्रभाव से नृत्य कला भी अछूती न रह सकी । भगवान को प्रसन्न करने वाली पावन नृत्य कला राज दरबारों में पहुँच गई । उसका आध्यात्मिक महत्व समाप्त होकर आर्थिक दृष्टिकोण बनने लगा जो इसके हास का मुख्य कारण बना तथा इरा प्रकार उसमें अनेक परिवर्तन आ गये । सम्पूर्ण अंगों के संचालन वाला नृत्य केवल पैरों का तमाशा मात्र रह गया । नृत्य के पूर्व भगवान के प्रति की जाने वाली स्तुति ने सलामी का रूप ले लिया । वाजिद अलीशाह के काल में इन्हीं तमाशों को मंडलियों के रूप में बांट कर दरबार में प्रश्रय दिया गया था ।

भारतीय नर्तकी की वेशभूषा में भी परिवर्तन कर दिया गया । राधा को साकी के रूप में देखकर मुसलमान बादशाहों को बहुत प्रसन्नता होती थी । इस समय कत्थक का स्तर बहुत निम्न हो गया लेकिन बाद में ठाकुर प्रसाद, दुर्गा प्रसाद, बिन्दादीन, कालका प्रसाद, भैंरी प्रसाद, लच्छु महाराज, शम्भू महाराज, नटराज गोपीकृष्ण, दमयन्ती जोशी, रोशन कुमारी सितारा आदि ने भारत के साथ- साथ अन्य देशों में भी कथक नृत्य का यथोचित प्रचार व प्रसार किया ।

कथक नृत्य की विशेषताएँ -सृष्टि में ताल और लय का जितना महत्व है उतना अन्य और किसी का नहीं है । कथक नृत्य में पैरों के आघातों द्वारा घुंघराओं के संयोग से ताल के जटिलतम रूपों का प्रदर्शन किया जाता है जो अन्य किसी नृत्य में नहीं मिलता । कथक नृत्यकार लय की विविध चालों द्वारा प्राण को गति प्रदान करता हुआ सौन्दर्य की सृष्टि करता है । नृत्य, नृत्त और नाट्य तीनों का सम्मिश्रण केवल कथक में ही मिलता है, तबले एवं परवावज के बोलों का आनन्द भी इस नृत्य में मिलता है । कथक नृत्य में मुख्य रूप से सात अवयव होते हैं -

1. **छाठं का लक्षण नृत्य :-** ताल के ठण्डे की आवृत्तियो के आधार नृत्य की स्थिति और उसके स्वरूप का निदग्दर्शन होता है ।

2. **नृत्यांग-** इसमें नृत्य के विविधरूप प्रदर्शित किए जाते हैं जिसमे तौल की आवृत्तियों के साथ-साथ लयकारी, जाति और तत्कार का उच्चारण सम्मिलित रहता है ।
3. **जाति शून्य -** इसमें लय की विशेषता को भाव तथा अंग से प्रदर्शित किया जाता है तथा भावों की बारीकियों को संकुचित कर दिया जाता है ।
4. **भावरंग -** इसमें नायक नायिका भेद को साहित्य परन, भाव परन तता स्वर जाति के आधार से अभिव्यक्त किया जाता है ।
5. **इष्ट पद -** इसमें कवित के पदों दारा इष्ट देव की स्तुति में भावों को स्वर जाति और इष्ट परनों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है ।
6. **गति भाव -** इसमें किसी कथा का वर्णन होता है जिसे किसी भी दुमरी में बांधा जा सकता है।
7. **तराना -** यह गति भाव का द्रुत रूप है जिसमें स्वर मिश्रण के साथ संगीत-परन और साहित्य परन मिल जाती है ।

कत्थक नृत्य में आमद, गत, तोड़ा, टुकड़ा, आवृत्ति या चक्कर भिन्न मात्राओं में नीचे जाते हैं । अदा, परण, तत्कार, थाट, हस्तक, घुमरिया, कवि, निकास, पढन्त आदि प्रदर्शित किये जाते हैं।

इसके जयपुर, लखनऊ एवं बनारस घराना मिलता है । इनके मुख्य कलाकार बिरज महाराज, गोपी कृष्ण, लच्छू महाराज, पूर्विया बहिनें, शम्भू महाराज, सितारा, मृणालिनी आदि हैं ।

31.6.3 भरत नाट्यम - "भरत नाट्यशास्त्र" की रचना करने वाले भरत मुनि की नृत्य कला का नाम भरत नाट्यम है । तंजौर में प्रचलित नृत्य प्रणाली को जिसे पहले "देवदासी अट्टम" कहते थे, आज ' 'भरतनाट्यम' ' कहते हैं । इसमें भारतीय नृत्य कला का उच्चतम प्रणालीगत स्वरूप मिलता है । देवदासियों के दारा नृत्य किया जाता था । इसलिए "दासी अट्टम" नाम पड़ा । अंग- मुद्रा चारी और अभिनय की उसमें प्रचुरता होती है । ताल, लय का काम उत्कृष्ट होता है ।

इस नृत्य का आरम्भ एक आह्वान से होता है जिसे "गति स्वरम्" कहते हैं । इसके बाद इकाई "जातिस्वरम्" जिसमें मृदंग की ताल और ध्वनि पर नृत्य होता है और फिर "शब्दम्" किया जाता है इसमें नर्तक शिव या श्री कृष्ण की आराधना में मंत्रोचारण करता है और उसके साथी किसी विशेष रूप का अभिनय करते हैं । इस प्रकार इस नृत्य में नृत्य कौशल और अभिनय दोनों की विशेषता सम्मिलित होती है । अत: गति को मुद्राओं और भावों की अर्थ पूर्ण भाषाओं द्वारा व्यक्त किया जाता है । इसके बाद "वरणम्" जिसमें नर्तक के नृत्य-कौशल का प्रदर्शन मुख्य रूप से किया जाता है, इसके पश्चात् "जवेली" और "तिल्लन" है । "तिल्लन" इसी नृत्य का एक रूप है, जिसमें तालबद्ध पैर चलाना मुख्य है । यह नृत्य पूर्णतया शास्त्रीय है । पदम् में श्रृंगार रस के पदों का अभिनय कल्पना से संजोकर किया जाता है ।

इस नृत्य की वेश-भूषा तथा रूप सज्जा बहुत कलात्मक होती है । रेशमी साड़ी को पहिनाकर सामने की ओर चुन्नट डाली जाती है जो बैठने पर सामने की ओर चन्द्राकार खुल जाती है ऊपर ब्लाऊज, कमर में पट्टी कर्धनी, बाहों में बाजूबन्द, माँग में टीका व कानों में सुन्दर चमकदार आभूषण पहने जाते हैं । सुन्दर सी चोटी बनाकर फूलों को लगाते हैं ।

भरत नाट्यम के कुटुंब में प्रमुख व्यक्ति " नटुबन' ' होता है जो करताली से ताल देते हुए नृत्य का निर्देशन एवं संचालन करता है, यही व्यक्ति गुरु कहलाता है, यह नृत्य के बोल पढ़ता व गीत

भी गाता है । संगीतकार के रूप में मृदंग व बाँसुरी बजाने वाले होते हैं, वर्तमान में बेला तथा क्लोरेनेट का वादन भी इसमें शामिल कर लिया गया है, इस नृत्य में ताल प्रबन्ध बड़ा ही सुन्दर होता है । गायक, वादक व नर्तक की कला मिलकर अपूर्व आनन्द का सृजन करती है ।

31.6.4 मणिपुरी नृत्य - यह नृत्य मूलत: मणिपुर नामक प्रदेश का लोक नृत्य है । भारत, बर्मा की सीमा और आसाम के पहाड़ी जिलों के बीच स्थित इस प्रदेश का यह नृत्य आज भारत को प्रमुख नृत्य शैलियों में स्थान पा चुका है जो उमंग और उद्‌गार की स्पंदित तथा रंग और रूप से मुखरित है ।

मणिपुर के लोग अपने आपको अर्जुन के वंशज मानते हैं, कृष्ण लीला आदि धार्मिक भावनाओं से संबंधित एवं रास नृत्य का उन पर विशेष प्रभाव देखा जाता है । वहीं की नृत्यकला आरम्भ में वन देवता की उपासना के लिए प्रयुक्त होती रही । आगे चलकर शैव तथा वैष्णव परम्पराओं का प्रभाव भी इस पर पड़ा । वहीं के लोग अपनी धार्मिक भावनाओं को नृत्य तथा संगीत के माध्यम से व्यक्त करते हैं । नृत्य की सभी मुद्राएँ मृदंग व मंजीरों से सम्पन्न हो जाती है, अन्य वाद्‌यों का प्रयोग प्राय: नहीं पाया जाता है । इसकी तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ है -जातीय नृत्य, कला-नृत्य और मनोरंजन नृत्य। किन्तु सर्वाधिक प्रचलित नृत्य है "लाईहरोबा" और "रासलीला" ।

मणिपुरी नृत्य के दो पहलू है -लास्य और ताण्डव । लास्य । अपनी सुकुमारता के लिए प्रसिद्ध है और दूसरा पौरुष तथा पराक्रम का द्‌योतक है ।

मणिपुर नृत्य की वेश- भूषा अनोखी होती है । नृत्य की संगति झाल, करताल, वीणा, इसराज, वंशी, मृदंग तथा ढोलक जैसे वाद्‌यों से की जाती है । इसे शास्त्रीय नृत्य की प्रतिष्ठा देने का श्रेय महाकवि रविन्द्रनाथ टैगोर को है ।

31.6.5 कथकलि नृत्य - दक्षिण भारत के केरल प्रदेश का मुख्य नृत्य माना गया है । कथकलि शब्द की व्युत्पत्ति "कथा", "कलि" से है । दक्षिण के मलयालम भाषा में कथा का अर्थ है " कहानी" और "कलि" का अर्थ है "खेल" । अर्थात कहानी का वह रूप, जो खेल या प्रदर्शन द्‌वारा व्यक्त किया जाये । आरम्भ में गीत, बोल अभिनेता के द्‌वारा गाए जाते थे परन्तु वर्तमान में गीत, बोल गायकों की मण्डली अलग हुआ करती है । इसमें रामायण, महाभारत की कथाओं का अभिनय केवल मुद्राओं द्‌वारा किया जाता है । इसकी विशेषता मुकाभिनय में होती है जो केवल मुद्राओं के माध्यम से किया जाता है । ये मुद्राएं भरत नाट्‌यम की मुद्राओं से अधिक जटिल होती है । इसमें नर्तक अपनी भावमभगिमा, मुद्रा और नृत्यों के बल पर किसी पौराणिक कथा का दिग्दर्शन करता है । इसे पहले "रामनाथम" अर्थात् "श्रीराम की कथा" कहते थे । सत्रहवीं शताब्दी में दक्षिण के प्रसिद्ध नर्तक केरल वर्मा ने वर्तमान स्वरूप को जन्म दिया और राम ब्रह्म ने सम्पूर्ण रामचरित को रंगमंच पर अभिनीत किया । इस प्रकार कालान्तर में इसमें पुराण और महाभारत की विविध कथाओं की वृद्धि होती गई और वर्तमान समय में प्रस्तुत पद्धति लगभग एक सौ ग्यारह कथाओं से युक्त मानी जाती है । इस नृत्य नाटक में केवल पुरुष ही भाग लेते हैं, स्त्रियों की भूमिका भी पुरुषों द्‌वारा की जाती है ।

साज-सज्जा एवं वेश-भूषा इस नृत्य की प्रमुख विशेषता है । मुख सज्ज के अन्तर्गत विभिन्न पात्रों के लिए विभिन्न रोगों का लेप निर्धारित है । मुख को प्राय: लाल या पीले रंग से रंगा जाता है एवं आँखों और भौहों के चारों ओर सफेद रंग की रेखाएँ खींची जाती है जिन्हें चुट्टी कहते हैं, कथकली

में सिर की वेशभूषा का बड़ा महत्व है इससे पात्र की ऊँच-नीचता का पता चलता रहता है । प्रकाश के लिए मंच के ऊपर पीतल की बड़ी लालटेन लटका दी जाती है । इसका मंच विशेष प्रकार से किन्तु सीधे सादे ढ़ंग से सज्जित किया जाता है । इसके आरम्भ होने से पूर्व ढोल वादक ढोल बजाकर उसकी सूचना देता है । मंच पर प्रस्तुत करने से पूर्व इसका पूर्वाभ्यास सेवाकली के रूप में मन्दिर में किया जाता है और वहाँ से सीधे निर्धारित मंच पर कलाकार प्रवेश करते हैं ।

कथकली के कलाकारों में स्व. शंकरम्, नम्बूदरीय तथा श्री गोपीनाथ के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं । 'श्री चित्रोदय नृत्य कलयान" नामक संस्था भी इस दिशा मे अभूतपूर्व कार्य कर रही है ।

31.7 नर्तक, नर्तकी तथा नृत्याचार्य के गुण-

नाट्य-शास्त्र एवं अन्य प्राचीन नृत्य ग्रन्थों के अनुसार नर्तक, नर्तकी तथा नृत्याचार्य के गुण इस प्रकार है-

नृत्याचार्य-अच्छे कुल का, अनेक शिल्पों का प्रयोग जानता हो, वाद्यवादन में दक्ष हो, सम्प्रदाय का ज्ञात हो, लय ताल का मर्मज्ञ हो, नृत्य भेदो को जानता हो, ग्रह मोक्ष में कुशल हो, नृत्यकार के हृदय की बात जानने वाला हो, सभापति को रिझाने वाला हो, सदा प्रसन्न रहने वाला हो, राग-वाद्य-प्रबन्ध तथा पाठाक्षर का ज्ञाता हो तथा भाव बताने में समर्थ हो ।

नर्तक - शरीर मनोहर हो, रूप श्रेष्ठ हो, नेत्र और कान विशाल हो, अधरों पर अरुणिमा, दाँत एक समान हों, कंठ शंख जैसी आकृति का हो, भुजाएँ बेल के आकार की हो, नितम्ब पुष्ट और उठे हुए हों, संगीत में प्रवीण हो, कोमल वाणी वाला धैर्यवान सात्विक वृत्ति वाला पुरुष हो ।

नर्तकी - नाट्य में कुशल हो, न अधिक स्थूल और न अधिक लम्बी हो, रूपवर्ती हो, लावण्य और यौवन के बोझ से दबी सी हो, वाणी मधुर हो, भुजाएँ वल्लीरी के समान हों, लय, ताल और कला की ज्ञाता हो, रस भाव में कुशल हो, अच्छे कुल की योग्य एवं कर्तव्यवान हो सात्विक अभिनय और हेलाभाव की विशेषज्ञता हो, आवोध में कुशल हो । पीरश्रमी हो, नृत्यीत में कुशल हो, उदार एवं धैर्यवती हो, चित्रकला में निपुण हो ।

31.8 रंग मंच

यह नृत्य का एक अंग है । प्रत्येक नृत्यकार को अपने से संबंधित मंच की जानकारी एवं उसके उपयोग विधि का ज्ञान होना आवश्यक है ।

मंच का क्षेत्रफल 16X16 या 32X30 तक पाया जाता है जिससे आगे पीछे की क्रिया करते समय नर्तक को असुविधा न हो ।

फर्श साफ सुथरा होना चाहिए । उबड़-खाबड़ न हो और न ही दरी रंग कालीन बिछाकर कार्य किया जा सकता है । मंच-पीठ के दृश्य की यह विशेषता होनी चाहिए कि वह कथानक के वातावरण को बनाए । रंग का चयन सही होना चाहिए । रंगमंच के ऊपरी भाग को रंग शीर्ष कहते हैं । प्राचीन समय की तरह आजकल कारीगरी नहीं की जाती है । मंच की प्रदर्शन-योजना के अनुसार नृत्यकारों को नृत्य करने के लिए विभिन्न स्थानों से प्रवेश तथा निकास की क्रियाएँ करनी होती है । इन क्रियाओं

के लिए नृत्यकार मंच को तीन विभागों में विभक्त कर लेना चाहिए । मंच का यह विभाजन "रेखांकन पद्धति" कहलाता है ।

31.9 ध्वनि एवं संगीत योजना

नृत्य कला को प्रस्तुत करने के लिए स्वर-वाद्य एवं ताल वाद्यों का प्रयोग किया जाता है । स्वर वाद्यों में सारंगी, वॉयलिन सितार, सरोद, बांसुरी, शहनाई, हारमोनियम एवं विभिन्न ध्वनियों के लिए मजरा, झांझ, जल-तरंग, घुंघरू आदि का भी प्रयोग किया जाता है । इससे लय की विशिष्टता दर्शायी जाती है । नगमों को बजाने वाला कलाकार लय का पक्क होता है । ये नगमें राग चन्द्रकोंस, दुर्गा, देस, काफ़ी भोमपलासी, मधुवन्ति आदि में बजाये जाते हैं (देखिए संलग्न चित्र)

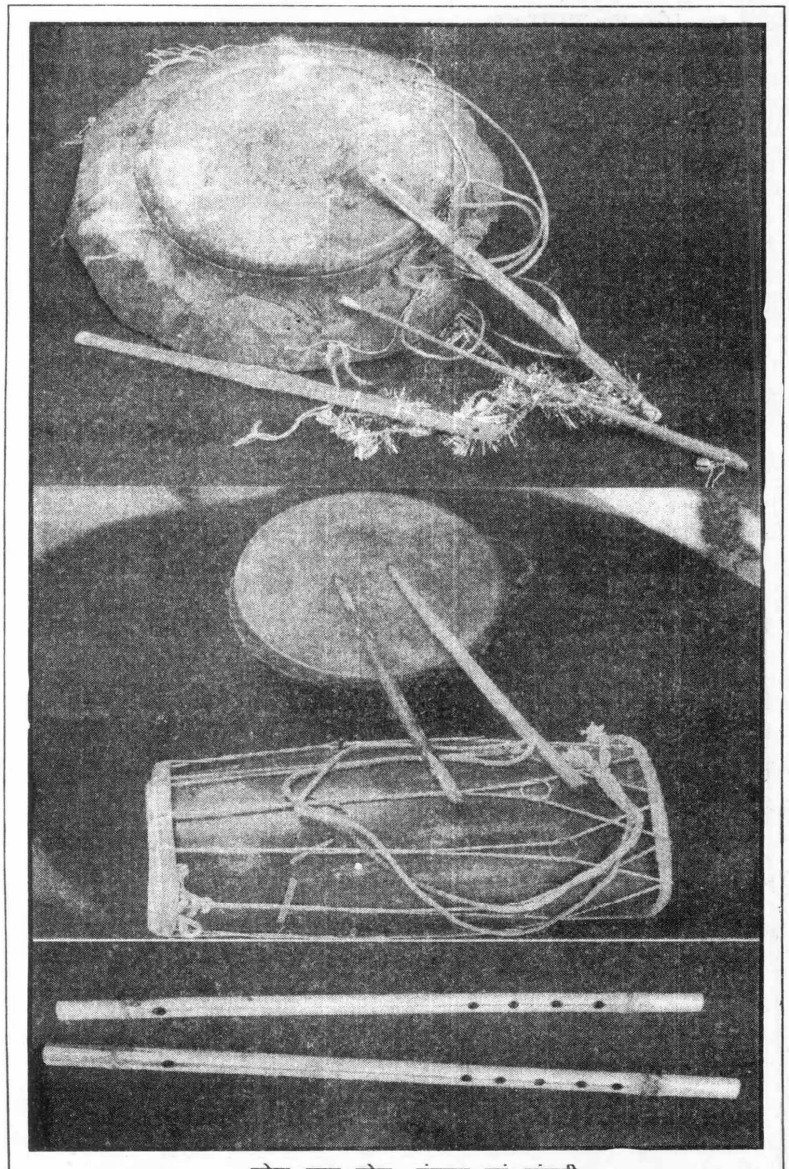

लोक वाद्य ढोल, नंगाडा एवं बांसुरी

नृत्य में ताल एवं लय का सबसे अधिक महत्व है । ये वाद्य ही नृत्य की गति को बल देकर विशेष आकर्षक बनाते हैं । तबला, पखावज शास्त्रीय नृत्य में बजाये जाते हैं । वाद्य यंत्रों के माध्यम से नवरस/श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, विभत्स, शांत आदि उत्पन्न किये जाते रहे हैं ।

इसके अलावा संगीत-निदेशक नृत्य के भावों एवं कथानक को ध्यान में रखकर सहायक ध्वनियों का प्रयोग करता है, ये सब क्रियाएँ ध्वनि निर्देशक पर आधारित हैं ।

31.10 प्रकाश व्यवस्था

नृत्य प्रदर्शन के आयोजनों को प्रस्तुत करने के लिए न तो हमारे प्राचीन मन्दों में पृथक मंच व्यवस्था का वर्णन मिलता है, न आज भी पृथक से इस विषय के लिए मंच की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है ।

रंगमंच के लिए प्रकाश योजना के दो प्रकार माने गए हैं-चल प्रकाश और अचल प्रकाश ।

31.10.1 चल प्रकाश - मंच पर चल-प्रकाश की व्यवस्था तीन प्रकार से की जाती है । प्रथम व्यवस्था के लिए प्राकृतिक दृश्यों के रूप में प्रकाश को चल रूप में जाना है । जैसे सूर्य और चन्द्रमा का उदय या अस्त होना । ऐसे दृश्य नृत्यकला के प्रदर्शन में प्रयुक्त नहीं किये जाते । नर्तक के भावों को अधिक स्पष्ट एवं आकर्षक बनाने हेतु प्रकाश-व्यवस्था द्वारा की जाती है ।

31.10.2 अचल प्रकाश - एक स्थान पर स्थित प्रकाश को अचल प्रकाश कहते हैं इसके दो भेद हैं-व्यवस्थागत और नाट्य-गत । दोनों ही प्रकार नाट्य मंच पर अधिक काम आते हैं, नृत्य में बहुत कम ।

31.10.3 रंगीन प्रकाश - रंग मंच पर नृत्य करते समय उसे अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए विविध प्रकार के रंगों को प्रकाश के द्वारा बदला जाता है, जिससे नर्तक द्वारा प्रकट किये जाने वाले भावों को बल मिलता है ।

व्यावहारिक जीवन में सफेद प्रकाश हो सर्वोपयोगी है । लेकिन रंग मंच की दृष्टि से रंगों की उपयोगिता भिन्न-भिन्न है । नृत्यकला के मंच पर उपयोग किये जाने वाले रंगों की संख्या नौ है, जिनका प्रयोग प्रकाश व्यवस्थापक प्रकाश दीपों के द्वारा रंग योजना में सम्पादित करता है । इन रंगों म तीन ही प्रकार के रंग है, जिनके मिश्रण से अन्य रंगों की उत्पत्ति हो सकती है । रंगों में लाल, पीला, नीला तीन रंग प्रमुख माने गए हैं ।

शास्त्रकारों ने साधारण रूप से रंगों के साथ भावों के लक्षण इस प्रकार बताये हैं-

1. सफेद रंग - पवित्र, निर्दोष, नम्र, सत्य, शान्त, विशुद्ध आदि भावों को स्पष्ट करता है।
2. लाल रंग - नर्मी, गुस्सा, खून, अग्नि, तिरस्कार के भाव प्रस्तुत करता है ।
3. काला रंग - दुःख, भय, मृत्यु, त्रास, विलाप के भाव प्रगट करता है ।
4. नारंगी रंग - हास्य, आनन्द, उष्ण आदि भावों को दर्शाता है ।
5. पीला रंग - पतन, डरपोक, बीमार, आलस्य भावों का द्योतक है ।
6. नीला रंग - बसन्त, श्रद्धा, शक्ति, यौवन, अमरत्व, विजय, हर्ष के भाव प्रगट करता है ।
7. कत्थई - इस रंग के लक्षण नारंगी रंग जैसे ही माने गए हैं ।
8. राखई (सलेटी)-नम्रता उदासी, निश्चय, विषाद, तपस्या भावों को प्रगट करता है ।

9. हरा रंग - दुःख, आकाश, स्वर्ग, दरिया गंभीर, आशा तथी शाही लक्षण वाले भावों को प्रस्तुत करता है ।
10. जामुनी रंग -शौर्य, वीरता, धन ऐश्वर्य, साधन सम्पन्नता आादि भावों को प्रगट करता है ।

नृत्यकार के भावानुसार निश्चित भाव लक्षणों के अनुसार रंगीन प्रकाश की व्यवस्था करनी चाहिए ।

31.11 इकाई सारांश

नृत्य हमारे देश की अति प्राचीन कला है इसकी उत्पत्ति का इतिहास पौराणिक ग्रन्थों में मिलता है । पुराणों के अनुसार "नाट्य" को पाँचवा वेद माना गया है, जिसके रचयिता स्वयं ब्रहमा माने जाते हैं । देवताओं के अति आग्रह से ब्रहमा ने ऋग्वेद से "शब्द", सामवेद से "संगीत" यजुर्वेद से "मुद्रा" और अथर्ववेद से "रस" ग्रहण कर एक पंचम वेद "नाट्य-वेद" की रचना की । यह अंतिम नाट्य वेद ब्रहमा ने भरत और उनके सौ पुत्रों को सौंप दिया ।

भारत में आज प्रमुख रूप से चार प्रकार की नृत्य शैलियाँ प्रचलित है - कत्थक, कथकलि भरत नाट्यम व मणिपुरी ।

प्रत्येक नृत्य को प्रस्तुत करने का अलग प्रकार, वेश भूषा, घटाने, रूप सौन्दर्य, पद संचालन अपनी विशिष्टता बनाए रखता और इसी कारण हम अलग-अलग प्रकार के नृत्य से आनन्द अनुभव कर सकते हैं ।

प्रत्येक नृत्य के लिए विशेष रंगमंच, ध्वनि, संगीत योजना, प्रकाश व्यवस्था उसके भावों के अनुसार प्रयुक्त होना आवश्यक है । जिससे नृत्य की विशिष्टता कलाकार के द्वारा दर्शायी जा सके।

31.12 अभ्यासार्थ प्रश्न :

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए -

1. क्या आप इस मत से सहमत हैं कि संगीत में गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों कलाओं का समावेश माना गया है?
2. समझाइये कि तीनों कलाएँ (गीत, वाद्य, नृत्य) स्वतन्त्र होते हुए भी एक दूसरे के आधीन हैं?
3. कला के भेद समझाइये ।
4. शब्द नृत्य क्या है?
5. रंगीन प्रकाश का क्या अभिप्राय है ।

(आ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिए :

1. ललित कलाओं में संगीत का क्या स्थान है?
2. संगीत एवं नृत्यकला के ऐतिहासिक रूप को सविस्तार से लिखिए?
3. नृत्य के प्रवर्त्तक कौन जाने जाते हैं? इस विद्या का प्रचार देवताओं में किस प्रकार हुआ? लिखिए ।

4. ताण्डव और लास्य नृत्य किनके द्वारा किया जा सकता है? एवं कौन से भाव इन नृत्य, से प्रस्तुत होते हैं? लिखिए ।
5. प्रमुख चार शास्त्रीय नृत्यों के बारे में लिखिए ।

31.13 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

1. प्रोजेश बनर्जी : बेसिक कन्सेप्ट ऑफ इण्डियन म्यूजिक
2. जयचन्द शर्मा : रंगमंच और नृत्य प्रदर्शन
3. लक्ष्मीनारायण गर्ग : संगीत निबंधावली
4. भगवत शरण शर्मा : भारतीय संगीत का इतिहास
5. कपिला वात्सायन : इण्डियन कलासिक्ल डांस
6. द्वार स्वामी आनन्द : डांस ऑफ शिया

इकाई 32 : "भारतीय रंगमंच : सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य"

इकाई संरचना

32.1 उद्देश्य

32.2 प्रस्तावना एवं पृष्ठभूमि

32.3 संस्कृत नाटक

32.4 पारसी नाटक

32.5 गुजराती नाटक

32.6 मराठी नाटक

32.7 बंगाली नाटक

32.8 हिन्दी रंगमंच

32.9 तमिल रंगमंच

32.10 तेलगू रंगमंच

32.11 कन्नड़ रंगमंच

32.12 मलयालम रंगमंच

32.13 इकाई सारांश

32.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

32.15 प्रासंगिक पठनीय प्रश्न

32.1 उद्देश्य

भारतीय परम्पराओं एवं सांस्कृतिक अध्ययन के लिए रंगमंच के क्रमिक विकास को भी समझना आवश्यक है । भारतीय रंगमंच ने सदैव ही भारतीय विचारों का प्रतिनिधित्व किया है व ऐतिहासिक क्रम को सामाजिक अर्थों में स्पष्ट किया है । मध्यकाल में जहाँ उसने शौर्य व भक्ति की प्रशंसा की हे वहीं ब्रिटिशकाल में नव चेतना को जगाने में उल्लेखनीय योगदान दिया है ।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ पायेंगे कि :

(1) प्राचीन भारत में नाटकों का उद्भव किस प्रकार हुआ व कालान्तर में उसमें किस प्रकार के रंग भरते गये ।

(2) भारतीय रंगमंच शनैः-शनैः अलग-अलग भाषाओं में किस प्रकार मंचित होता चला गया ।

(3) पारसी थियेटर तथा जन भावनाओं का उसके विकास में कितना प्रभाव पड़ा ।

(4) आधुनिक नाटक की पृष्ठभूमि व स्वरूप क्या है?

32.2 प्रस्तावना एवं पृष्ठभूमि

आधुनिक भारतीय रंगमंच अपने वर्तमान स्वरूप के लिए संस्कृत नाट्य परम्परा का ऋणी है मानवीय जीवन के आदर्शों आकांक्षाओं व भावनाओं को रूपायित करने वाले संस्कृत रंगमंच का इतिहास अत्यन्त प्राचीन -है । ऋग्वेद में प्राप्त संवाद सूक्त जहां संभावित नाट्य प्रदर्शनों के सूचक हैं वहीं यजुर्वेद में नाट्य प्रदर्शन से सम्बन्धित सामग्री तथा पात्रों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । वाल्मीकि रामायण में

'गीत वादित्र-कुशल' एवं विभिन्न वाद्य यंत्रों तथा नाट्य संघों का स्पष्ट संकेत मिलता है । ईस्वी सदी के आरम्भिक काल में भास ने भारतीय रंगमंच को समृद्ध किया । भास के तेरह नाटक प्राप्त होते हैं, जिनमें नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से 'स्वप्नवासवदत्तम्' सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है । भास ने सुखान्त संस्कृत नाटकों की परम्परा के मध्य 'उरुभंगम्' सदृश दुःखान्त नाटक भी लिखे । भास के परवर्ती नाटककारों में शूद्रक का 'मृच्छकटिकम्' (मिट्टी की गाड़ी) मानवीय संवेदना से परिपूर्ण ऐसा सामाजिक नाटक है जिसके समस्त विश्व में अनेक प्रदर्शन हो चुके हैं । कालांतर में कालिदास ने तीन नाटक लिखे जिनमें 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' ने विश्व की श्रेष्ठ नाट्य कृतियों में स्थान प्राप्त किया । कालिदासोत्तर युग में उत्तररामचरित के लेखक महाकवि भवभूति तथा मुद्रारक्षस के रचयिता विशाखदत्त के अतिरिक्त अन्य नाटककारों में मौलिकता का अभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा । दूसरे शब्दों में यह युग नव सर्जना से अधिक अनुकरण का था । इस युग के सभी नाटककार, भले ही वे श्रीहर्ष हों या भट्टनारयण, काव्य प्रतिभा और कल्पना के धनी तो थे । परन्तु, नाटकीय दृष्टि से उनके नाटक मंचन के योग्य नहीं थे । श्रीहर्ष, भट्टनारयण, जयदेव, मुरारि एवं राजशेखर जैसे नाटककर शास्त्रीय परम्परा का अनुसरण करने वाले लेखक थे । अत: वे रंगमंच पर किसी भी नवीन नाट्य शैली की उद्भावना करने में असमर्थ रहे । यहीं से संस्कृत नाटकों का ह्रास आरम्भ हुआ । यद्यपि नाटक कमोबेश रूप में निरन्तर लिखे जाते रहे । लेकिन, नाटकीय कल्पना के अभाव एवं तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के कारण वे कभी जनमानस में अपना स्थान न बना सके । शक्तिशाली राजसत्ता के अभाव व विदेशी आक्रान्ताओं के निरन्तर प्रहारों ने संस्कृत रंगमंच को पतन के गर्त में कुछ इस प्रकार ढकेला कि उसका पुनरुत्थान संभव न हो सका।

32.3 संस्कृत नाटक

विशेषताओं की दृष्टि से गद्य-पद्य मिश्रित संस्कृत नाटक अंकों में विभाजित होते थे । प्रत्येक अंक दृश्यों में बंटा होता था । अंक व दृश्य में स्थान तादात्म्य अनपेक्षित था । एक अंक भूमि पर तो दूसरा स्वर्ग में घटित हो सकता था । अंक के अंत में सभी पात्रों के मंच से बाहर निकल जाने की व्यवस्था थी । नाटक के आरम्भ में स्तुति के रूप में नांदी पाठ व अन्त में शुभाशंसन के लिए भरत वाक्य का होना अपेक्षित था । नाटक के आरम्भ में सूत्रधार व नटी नाटक के कथ्य की ओर संकेत कर पात्रों के प्रवेश की भूमिका बनाते थे । संस्कृत नाटक प्राय: सुखान्त होते थे व प्रदर्शन हेतु वर्जित युद्ध, वध आदि घटनाओं की सूचना अर्थोपक्षेक के माध्यम से दी जाती थी । ये अर्थोपक्षेक विभिन्न माध्यमों से घट चुकी या घटने वाली घटनाओं की सूचना देते थे तथा कथा का सूत्र थामे रखने में सहायक होते थे । नाटक में हास्य की सर्जना के लिए विदूषक का चरित्र रखा जाता था । स्त्रियों तथा निम्न वर्ग के पात्रों के संवाद प्राकृत भाषा में हुआ करते थे ।

भारतीय रंगमंच का प्राण मूलत: संस्कृत नाटक या पौराणिक आख्यान ही रहे हैं । अनेकता में एकता रखने वाली भारतीय संस्कृति के प्रभाव 'स्वरूपत: भिन्न प्रादेशिक रंगमंचों पर देखा जा सकता है । यद्यपि प्रादेशिक रंगमंच पर पाश्चात्य प्रभाव भी स्पष्टत: देखा जा सकता है तथापि भारतीय जीवन, दर्शन व कला के रंग उनमें बखूबी दिखाई देते हैं । प्रादेशिक रंगमंच यदि एक ओर अपनी भाषा के नाटकों से जुड़े तो दूसरी ओर उन्होंने संस्कृत नाटकों व उनके रूपान्तरों की प्रस्तुति कर संस्कृत रंगमंच के प्रति अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन भी किया । प्रादेशिक रंगमंच का विकास उत्तर भारत व दक्षिण भारत

में समानान्तर रूप से हुआ । रंगमंच के इस बहुरंगी विकास को समझने के लिए प्रादेशिक रंगमंचों के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है ।

32.4 पारसी रंगमंच

गुजराती, उर्दू और हिन्दी का रंगमंच पारसियों का ऋणी है । दरअसल पारसी रंगकर्मियों ने ही सर्वप्रथम व्यावसायिक रंगमंच की स्थापना की । सन् 1870 में रूस्तमजी फ्रामजी ने ' ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी ' की स्थापना की । इसके कुछ ही वर्षों बाद खुर्देशजी ने सन् 1877 में ' विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी ' की नींव डाली और लंदन जाकर शेक्सपियर के ' हैमलेट' नाटक का प्रदर्शन किया । तत्कालीन पारसी नाटक कम्पनियों में कोरेंथियन कम्पनी, न्यू एलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी, ओल्ड पारसी थियेट्रिकल कम्पनी, प्रिंस थियेट्रिकल कम्पनी, अलेक्जेंड्रा कम्पनी आदि प्रमुख हैं । इन कम्पनियों में व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा बहुत रहती थी । इनमें से कुछ नाटक कम्पनियाँ 1930 - 34 तक सक्रिय रहीं ।

प्रत्येक पारसी कम्पनी के पास सम्पूर्ण नाट्य मंडली होती थी जिसमें निर्देशक, नाटककार, संगीतकार, गायक, मंचसज्जा आदि करने वाले कुशल लोग होते थे । अभिनय के लिए सुन्दर नयन-नक्श वाले किशोर वर्ग के अभिनेताओं को प्रमुखता दी जाती थी । आरम्भ मे पुरुष पात्र ही नारी पात्रों की भूमिका करते थे । किन्तु, कालान्तर में वाँदीवाला ने सर्वप्रथम रंगमंच पर 'गोहर', ' मुन्ना बाई' और 'मेरी फेन्टन' को प्रदर्शित कर श्रेय प्राप्त किया ।

पारसी नाटक, आज की फिल्मों की भाँति बहुत खर्चीले होते थे । विशेषत: पौराणिक या ऐतिहासिक नाटकों का खर्च एक लाख तक पहुँच जाता था । फिर भी साहित्यिक दृष्टि से ये स्तरीय नहीं होते थे । इन नाटकों का उद्देश्य जन-मानस का मनोरंजन कर पैसा कमाना ही था । अत: इनमें चटपटे संवादों, फडकते गीत व शेरो - शायरी का बाहुल्य रहता था । रंगमंच का अलंकरण चित्रों आदि के माध्यम से किया जाता था । मंच की पृष्ठभूमि में भड़कीले रंगों से चित्रित एक परदा टंगा रहता था । मंच पर गुप्त द्वार भी बने होते थे, जो किसी भी पात्र के अचानक प्रकट होने या गायब होने के काम आते थे । इन नाटकों में राक्षसों के हवा में उड़ने, आकाश से परियों के उतरने आदि के दृश्य अनेक तकनीकी यंत्रों की सहायता से दिखाए जाते थे ।

अधिकांश पारसी नाटक इतिहास, पुराण, किस्से कहानियों या शेक्सपियर के नाटकों पर आधारित होते थे । त्याग, पतिव्रत धर्म, शूरवीरता, सत्य, कौमी एकता पर बल देने वाले ये नाटक मूलत: सुखान्त होते थे । अत: भले का अन्त भला ही होता था । आगा हश्र काश्मीरी इस काल के प्रसिद्ध नाटककार थे । उन्होंने शेक्सपियर के नाटकों का पारसीकरण करने के साथ-साथ ' ऑख का नशा' एवं ' रूस्तम ओ सुहराब' सरीखे मौलिक नाटक भी लिखे । जो जनता में बेहद लोकप्रिय हुए । नाट्य-शिल्प के अनेक विस्मय जनक प्रयोग करने वाले ये पारसी नाटक 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से चलचित्रों के आगमन तक अर्थात् प्राय: एक अर्द्ध शताब्दी तक सारे भारत में छाए रहे । अन्त में सिनेमा की भव्य दृश्य योजना और अभिनव शिल्प प्रयोग का मुकाबला न कर पाने के कारण भारतीय रंगमंच की इस महान् धारा का ऐसा पतन आरम्भ हुआ कि फिर कभी ये जन साधारण के मध्य लोकप्रिय न हो सके ।

32.5 गुजराती रंगमंच

पारसी थियेटर ने अपने नाट्य प्रस्तुतीकरण में गुजराती भाषा को भी प्रश्रय दिया था । अत: कहा जा सकता है कि गुजराती रंगमंच का आरम्भ पारसी रंगमंच की छाया में ही हुआ । कालान्तर में गुजराती रंगमंच ने स्वतन्त्र रूप से अपनी छवि निर्मित की । पारसी थियेटर के विदेशीपन तथा गुजराती भवाई नाटक मंडलियों द्वारा उस समय प्रदर्शित किए जाने वाले ग्राम्य नाटकों को देखकर सर्वप्रथम रणछोड़ भाई उदयराम ने नवीन शैली की नाट्य रचना की । आरम्भ में उन्होनें गुजराती थियेटर के लिए संस्कृत नाटकों के रूपान्तर किए । बाद में ' सत्य हरिश्चन्द्र', ' नल दमयन्ती' जैसे पौराणिक तथा 'ललित-दु:ख-दर्शक' सरीखे सामाजिक दु:खान्त नाटक भी उन्हीं के द्वारा प्रस्तुत किए गये । इसी काल के आसपास अनेक पौराणिक नाटकों को भी सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया गया । विशुद्ध गुजराती नाटक खेलने वाली कम्पनियों का विकास इतनी तीव्रता से हुआ कि पारसी- गुजराती नाटक मंडलियों की लोकप्रियता समाप्त होने लगी । जन रुचि के समाप्त हो जाने के कारण इन नाटक कम्पनियों ने मुम्बई व गुजरात नाटक मंडलियों के लिए छोड़ दिया । सन् 1878 में मौर्वी आर्य सुबोध नाटक मंडली की स्थापना बाघजी भाई आशाराम ओझा द्वारा की गई । इस कम्पनी द्वारा प्रस्तुत ' त्रिविक्रम' नाटक निरन्तर पाँच वर्षों तक खेला जाता रहा । 1885 से गुजराती रंगमंच का तीव्रता से विकास हुआ । स्वाभाविक व्यावसायिक बुद्धि सम्पन्न गुजराती लोगों ने अनेक नाटक मंडलियों की स्थापना की । जिनमें नरोत्तम गुजराती, बम्बई गुजराती कम्पनी प्रमुख है ।

गुजराती रंगमंच के उत्थान में दयाभाई का नाम अविस्मरणीय रहेगा । 1885 में स्थापित इनका 'देश नाटक समाज' लम्बे अरसे तक गुजराती रंगमंच की पताका एकाकी ही थामे रहा । यही एक मात्र तत्कालीन व्यावसायिक गुजराती रंगमंच कहा जा सकता है । यो इस सदी के आरम्भ में और भी कई नाटक कम्पनियाँ आगे आई । इनमें आर्य-नीति-दर्शक नाटक समाज, आर्य नाट्य समाज आर्य नैतिक नाटक समाज, विद्या विनोद नाटक समाज, सरस्वती नाटक समाज और लक्ष्मीकान्त नाटक समाज द्वारा प्रस्तुत प्रदर्शनों ने गुजराती रंगमंच को गति और शक्ति दी ।

पिछले अर्द्धशतक में गुजराती रंगमंच ने विकास के लम्ब डग भरे हैं । इस काल में रमणभाई, नानालाल, कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी, रमणलाला देसाई, श्रीधाराणजी आदि के नाटकों ने गुजराती रंगमंच को समृद्ध किया । मुंशी, मेहता और देसाई के नाटक अधिक लोकप्रिय रहे हैं और इनके नाटकों का अभिनय गुजराती रंगमंच पर निरन्तर होता रहा है । गुजरात विद्या सभा द्वारा स्थापित नाट्य-मण्डली के तत्वाधान में 'मैना गुर्जरी' और अन्य लोक नाट्यों को नवीन नाट्य शैली प्रस्तुत किया गया है । अव्यावसायिक नाट्य-मण्डलियों में इण्डियन नेशनल थियेटर, भारतीय विद्या भवन का 'कलाकेन्द्र' और 'रंगभूमि' (बम्बई) तथा 'रंगमण्डल के उत्थान की दिशा में प्रयत्नशील प्राचीन है।

प्राचीन गुजराती रंगमंच की तुलना में अब नवीन नाट्य-शैलियों का प्रयोग हो रहा है । आज के आधुनिक युग में बकुल त्रिपाठी, रसिक लाल पारीक, चंद्रवदन मेहता जैसे लेखक व रंगकर्मी गुजराती के विकास में योगदान कर रहे हैं ।

32.6 मराठी रंगमंच

मराठी रंगमंच का उत्थान मराठी साहित्यकार और नाट्य-लेखको की निष्ठा के द्वारा हुआ है । मराठी रंगमंच भारतीय जनजीवन में छायी सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक विषमताओं के विरोध में एक शक्तिशाली माध्यम रहा है । एक ओर महाराष्ट्र में आगरकर, केलकर और सावरकर जैसे क्रान्तिकारी और खाडिलकर तथा वामणराव जोशी जैसे राजनीतिक विचारकों का सहयोग प्राप्त होने के कारण मराठी रंगमंच उनके विचारों का शक्तिशाली वाहक बना तो दूसरी ओर बाबूराम कोलहतकर और बालगंधर्व जैसे महान् संगीतकारों ने रंगमंच के विकास के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन उत्सर्ग कर उसमें नूतन प्राण-प्रतिष्ठा की । मराठी रंगमंच महाराष्ट्र में आध्यात्मिक उत्थान, सामाजिक क्रान्ति और पराधीन राष्ट्र की मुक्ति की विजयिनी पताका लेकर दृढ़ चरणों से आगे बढ़ा ।

आधुनिक मराठी रंगमंच का समारंभ आज से सवा सौ वर्ष पूर्व 1843 में हुआ । कन्नड़ रंगमंची परम्परा का अनुसरण करते हुए संगली के राजा के आदेश से उनके दरबार के कीर्तनकार विष्णुदास भावे ने संगीत नाटक प्रस्तुत किए । इनमें संवाद नहीं थे । कथा-वस्तु से परिचित पात्र गीतों के मध्य में अपनी ओर से गद्यात्मक संवाद जोड़ देते थे । सभवत: 'सीता स्वयंवर' मराठी का पहला नाटक था ।

मराठी नाटकों के अभिनय के लिए आर्योद्धारक और साहुनगरवासी आदि कम्पनियाँ खुलीं । शेक्सपियर के 'कौमैडी ऑफ एरर' का मराठी रूपान्तर आर्योद्धारक ने प्रस्तुत किया । साहुनगरवासी कम्पनी मुख्यतया पौराणिक नाटक प्रस्तुत किया करती थी । इन नाटकों में संत तुकाराम के रूप में गणपतराव जोशी और नारी-पात्र की भूमिका में बलवंतराव जोग अत्यन्त विख्यात हुए ।

यह युग शैक्यपियर के दु:खान्त नाटकों का मराठी भाषा में नाट्य-प्रयोग के रूप में प्रस्तुत करने का भी था । आगरकर द्वारा प्रस्तुत शेक्सपियर के हैमलेट एवं अन्य दु:खान्त नाटकों के नायक के रूप में गणपतराव जोशी ने इस युग में प्रेक्षकों को वर्षों तक मुग्ध रखा ।

मराठी रंगमंच के इतिहास में अभिनेता एवं नाटककार स्व. 'अन्नासाहेब किर्लोस्कर का महत्व ऐतिहासिक है । उन्होंने 1880 में किर्लोस्कर कम्पनी की स्थापना की और 'संगीत शकुन्तला', 'संगीत सुभद्रा', 'सुखदा' और ' रामविजय ' आदि स्वचरित नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किये । इस नाट्य मण्डली के लिए बाबूराव कोलहतकर जैसे महान् संगीतकार ने संगीत दिया और नायिका की भूमिका में प्रस्तुत हो दर्शकों को वर्षों तक मंत्रमुग्ध करते रहे ।

किर्लोस्कर के बाद कोलहतकर वर्षों तक मराठी रंगमंच पर छाये रहे । देवल-रचित स्वतन्त्र नाटक' शारदा' में गीतों की मधुर योजना पर कोलहतकर का ही प्रभाव था । स्वदेश हितचितक की रंगभूमि पर केशव भोंसले ने देवल-रचित ' शारदा ' की सफल भूमिका की और कोलहतकर ने मधुर संगीत द्वारा उसे अमरता प्रदान की । इसी नाट्य-संस्था को महान् मराठी नाटककार स्व. मामा वरेरकर के प्रथम नाटक 'कुंजबिहारी' (1908) को प्रस्तुत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ।

बीसवीं सदी के आरम्भ तक मराठी नाटक में मुख्यतया उच्च वर्ग की प्राकांक्षाएँ ही प्रतिध्वनित हो रही थीं । परन्तु सामान्य जन के सुख-दु:ख और हर्ष -विषाद को नाटकों में माधवराव पत्नाकर ने स्वर दिया । उनकी इस लोकपरक उद्बुद्ध चेतना को महाराष्ट्र के सुदूर ग्रामों तक फैलाने का कार्य कालान्तर में बाबाजीराव राणे ने किया ।

मराठी रंगमंच के इतिहास में भोंसले और गायक- अभिनेता बालगंधर्व की देन चिर स्मरणीय रहेगी । वे कई युग तक मराठी रंगमंच पर छाये रहे । इन दोनो महान अभिनेताओं ने स्व. मामा वरेरकर और खाडिलकर- रचित नाटकों का अभिनय किया । खाडिलकर कृत 'कीचक-वध' के अभिनय ने कभी महाराष्ट्र के जन- जीवन में स्वतंत्रता की पवित्र ज्योति प्रज्वलित की थी । ब्रिटिश सरकार ने इसके प्रदर्शन पर रोक लगा दी थी जो कांग्रेस सरकार के सत्तारूढ़ होने पर ही उठी । बालगंधव और भोंसले ने. खाडिलकर लिखित ' मानापमान' को गाँधीजी के आदेश से तिलक स्वराज्य फन्ड के लिए रंगमंच पर प्रस्तुत किया था । एक ही रात में इस नाट्य-प्रयोग द्वारा लगभग सत्रह हजार रुपयों का संग्रह किया गया । बालगंधर्व को भारत के राष्ट्रपति ने कालान्तर में सम्मानित किया ।

भोंसले की मृत्यु के उपरान्त ' ललित कलादर्श' नामक नाट्य-मण्डली के सूत्रधार बाबूराव पेंढारकर हुए । इस रंगमंच पर उन्होंने स्व. मामा बरेरकर के सामाजिक नाटकों को प्रस्तुत किया । स्व. मामा वरेरकर अपनी नवीन यथार्थवादी नाट्य-प्रणाली से मराठी रंगमंच और नाट्यकारों को अभी तक प्रभावित करते रहे हैं । इन्होंने छोटे-बड़े चालीस नाटक लिखे । इनके नाटकों में राष्ट्रीयता का ओज, निम्न-मध्य वर्ग एवं श्रमिक वर्ग के प्रति सहज संवेदनशीलता और स्वतन्त्र स्वावलम्बिनी द्वारा अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत रहने का स्वर अत्यन्त मुखर था ।

इस सदी के तृतीय दशक के बाद कुछ अव्यावसायिक नाट्य-मंडलियाँ भी उत्पन्न हुई । नाट्यमन्वंतर (1932) उसी प्रयत्न का परिणाम था । स्त्री -पात्रों की भूमिका का निर्वाह इस संस्था में ज्योत्सना भोले किया करती थीं । परन्तु इससे भी पूर्व प्रसिद्ध संगीतज्ञा हीराबाई बरोदकर ने नूतन संगीत विद्यालय की स्थापना कर अपनी बहनों के सहयोग से कई नाट्य अभिनीत किये थे । स्त्री- पात्रों का मराठी रंगमंच पर प्रवेश इन्हीं की प्रेरणा से हुआ ।

1930 - 32 के आसपास चलचित्र का प्रभाव तेजी से फैलने लगा । उसके रूपहले आकर्षण की तुलना में मराठी नाटक कम्पनियाँ नहीं टिक सकीं । 1934 - 36 तक प्राय : सभी बड़ी नाट्य कम्पनियाँ टूट गई जिनमें बालगन्धर्व, ललितकलादर्श, बलवन्त और महाराष्ट्र प्रमुख थीं । परन्तु इस सदी के चतुर्थ दशक (1942) के बाद मराठी रंगमंच के इतिहास में पुन: आशा की किरण जगमगाने लगी थीं । मोतीराम गजानन रांगणेकर ने 'नाट्य-निकेतन' और पार्श्वनाथ केलकर ने 'लिट्ल थियेटर की स्थापना की । यह ध्यान देने योग्य है कि महाराष्ट्र में व्यावसायिक नाट्य-मण्डलियों की तुलना में शौकिया नाट्य-मण्डली के पैर कभी भी नहीं जम सके । रंगमंच की प्रगति का सम्पूर्ण दायित्व व्यावसायिक नाट्य-मण्डली पर ही रहा हैं ।

स्वतन्त्रता के उपरान्त मराठी रंगमंच के प्रति सुसंस्कृत जनों की अभिरुचि जागी है । महाराष्ट्र सरकार भी सफल नाट्य-प्रयोग के लिए पुरस्कार दिया करती है । नाट्यकला की शिक्षा देने की भी व्यवस्था हुई है । इससे मराठी नाटक और रंगमंच की सम्भावनाएँ बढ़ी है । मराठी भाषा में विजय तेंदुलकर, बसंत कानेटकर, सीतश आनेकर, महेश अलकुचवार जैसे अनेकानेक रंगकर्मियों ने वर्तमानकाल में मराठी रंगमंच को नई दिशा प्रदान की है ।

32.7 बंगला रंगमंच

मुस्लिम शासन के पूर्व नाटक बंगाल में विकसित हो रहे थे । बारहवीं सदी में बंगाल की साहित्यिक कर्मण्यता उत्कर्ष पर थी । मुसलमानों के आक्रमण के बाद बंगाल की सांस्कृतिक धारा दो

-तीन सदियों तक बिखरी-सी रही । इसी परिस्थिति मे सोलहवीं सदी मे चैतन्य का अवतरण हुआ । धर्म और आध्यात्म के प्रसार के लिए वे स्वयं नाट्य-प्रयोग में भाग लेते थे । चैतन्य-भागवत के लेखक वृन्दावन दास ने लिखा है कि ' रुक्मिणी हरण' नाटक मे उन्होंने स्वयं रुक्मिणी का अभिनय किया था । इस काल में ही यात्राओं का प्रसार हुआ । यात्राएँ बंगाल की धर्म भावना की अभिव्यक्ति 19वीं सदी तक करती रहीं । इसी काल में पश्चिमी नाट्य-प्रभाव की किरणें भी पूर्व में फूटने लगी थीं ।

कलकत्ता कभी भारत की राजधानी थी वहाँ पर यूरोपीय शासकों और व्यापारियों के मनोरंजन के लिए 13वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही कई शानदार रंगभवनो की स्थापना हुई थी । जिनमें नाटकों का प्रदर्शन होता था । नाट्य-प्रदर्शन की पाश्चात्य परम्परा से प्रभावित होकर बंगाल में बंगला रंगमंच की स्थापना हुई और उसी प्रभाव की छाया में दु:खान्त नाटकों की रचना बंगाली नाटककारों ने भी की । कलकत्ता थियेटर की स्थापना 1770 ई. में हुई । इसमें शेक्सपियर एवं अन्य नाटककारों के नाटकों का प्रदर्शन हुआ करता था । कलकत्ता थियेटर में ही सर्वप्रथम श्रीमती वेस्ट्रो के चौरंगी थियेटर की परम्परा का अनुसरण करते हुए रंगमंच पर श्रीमती कार्गिल को स्त्री-पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया।

बंगला रंगमंच के विकास की दृष्टि से रूसी यात्री लेबडेफ का योगदान बहुत महत्व का है । ये मूल अंग्रेजी नाटकों के अतिरिक्त उनके बंगला रूपांतरों को भी प्रस्तुत किया करते थे । उन्होंने 1795 में बंगाली थियेटर को जन्म दिया तथा 'दि डिसगाइज ' और ' लव इज द बेस्ट डॉक्टर' का बंगला रूपांतर प्रस्तुत किया । भाषाविद् गोकुलदास के सहयोग से बंगाली पुरुष एवं स्त्री-पात्रों को भी रंगमंच पर प्रस्तुत करने का सौभाग्य इन्हें प्राप्त हुआ ।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यूरोप से आई पुनजागरण की लहरें तट पर बरने महानगरों को भी छूने लगी थीं । इस युग में शेक्सपियर और संस्कृत के महान् नाटकों के अभिनय प्रस्तुत किए गये । प्रसिद्ध है कि संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् डॉ. एच. एच. विल्सन उत्तररामचरित के अभिनय में स्वयं पात्र बने थे । परन्तु पहला बंगाली दु:खान्त नाटक ' कुलीन कुल सर्वस्व' मार्च, 1857 में प्रस्तुत किया गया । प्रारम्भिक युग के सांस्कृतिक उन्नायकों में राजा जतीन्द्र मोहन टैगोर, राजा प्रतापचन्द्र सिंह, बाबूकालीप्रसन्न और राजा ईश्वरचन्द्र का नाम उल्लेखनीय है । हर्षरचित 'रत्नावली' का बंगला रूपांतर 31 जुलाई, 1858 को प्रस्तुत किया गया । इसमें पाश्चात्य शैली के आर्केस्ट्रा का प्रयोग किया गया था ।

बंगला रंगमंच के जन्मदाता गिरीशचन्द्र घोष ने बंगाल के जन- जीवन की आकांक्षा और भावना के अनुरूप 1872 में नेशनल थियेटर की स्थापना की । यह पहला थियेटर था जिसके पात्रों को नियमित वेतन मिलता था और प्रेक्षकों का प्रवेश टिकट पर होता था । गिरीशचन्द्र घोष ने देश की समकालीन समस्याओं को दृष्टि में रखकर दु:खान्त, सुखान्त, प्रहसन एवं गतिविधियों का सफल प्रयोग किया और रंगमंच को यथासंभव पाश्चात्य पद्धतियों से विभूषित भी किया ।

बंगला रंगमंच के इन प्रेक्षागृहों मे ही व्यावसायिक रंगमंचों के लिए अभिनेता तैयार हुआ करते थे । इन्हीं मे गिरीशचन्द्र घोष से शिशर भादुरि तक के महान् अभिनेताओं की गौरवशाली परम्परा सामने आई । अमृतलाल वसु, अपरेश मुकर्जी, दानी घोष, दुर्गादास बनर्जी, निर्मलेन्दु लहरी, अहीन्द्र चौधरी और अमरेन्द्र दत्त आदि प्रतिभाशाली अभिनेताओं ने बंगला रंगमंच का गौरव बढ़ाया । अभिनेत्रियों मे चारुशीला, कृष्णकामिनी, नीहार वाला, तारा सुन्दरी और प्रभा ने रंगमंच में यथार्थ, सजीवता और नूतनता

का संचार किया । घोष महोदय द्वारा प्रवर्तित नाट्य-परम्परा का संवर्द्धन उत्तरोत्तर डी. एल. राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नाट्य-रचनाओं और अभिनय के नवीनतम शिल्पों के द्वारा होता रहा है ।

शिशिर भादुरि इस युग के महान् एवं अद्वितीय अभिनेता थे । लगभग चालीस वर्षों तक वह बंगला रंगमंच पर छाये रहे । वृद्धावस्था में भी वे माइकेल मधुसूदन दत का अभिनय बड़ी और प्रभावशीलता से किया करते थे । सीता, षोडशी, शेष रक्षा और आलमगीर की सफल भूमिकाएँ नायक के रूप में उन्होंने की । बंगला रंगमंच को टैगोर परिवार की देन महान् है । रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अग्रज ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर-रचित 'वाल्मिक प्रतिभा' के अभिनय में उन्होंने वाल्मीकि की मुख्य भूमिका स्वयं की थी । रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लगभग तीन दर्जन नाटकों की रचना की । उन्होंने अपने नाटकों में नई शिल्प- विधियों का प्रयोग किया है पर शिक्षित अभिनेता और संस्कार-सम्पन्न प्रेक्षक ही उसका स्वाद ले सकते हैं । सामान्य रंगमंचों के अभिनेता न तो इन उत्कृष्ट नाटकों को प्रस्तुत ही कर सकते हैं और न प्रेक्षक उन्हें हृदयंगम ही कर सकते हैं । यही कारण है कि डी. एल. राय सामान्य रंगमंचो पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हैं ।

बंगाल में व्यवसायी रंगमंचों के अतिरिक्त अव्यावसायिक नाट्य-मण्डलियाँ भी अभिनय प्रदर्शन मैं यश प्राप्त कर चुकी हैं । बहुरूपी ट्य-मण्डल को 'चीनार तार' जैसे सामाजिक नाटकों के अभिनय द्वारा अत्यधिक ख्याति मिली । साथ ही बंगला रंगमंच को मन्मथराय शाचीन्द्रनाथ सेन गुप्त और विधायक भट्टाचार्य जैसे प्रतिभाशाली नाट्यकार एवं अहीन्द्र चौधरी और मनोरंजन भट्टाचार्य जेल कुशल अभिनेताओं का सहयोग भी प्राप्त हुआ है ।

गिरीश घोष जैसे प्रतिभाशाली लेखक--अभिनेता बंगला में अब नहीं रहे परन्तु स्वतंत्रता के उपरांत नाट्य-कला विकास की एक नयों लहर उठी है । लोक-रुचि रंगमंच की ओर से विमुख नहीं हुई है । निरुपमा राय रचित 'श्यामली' और निहाररंजन की 'उल्का' का प्रदर्शन लगभग दो वर्षों तक (1954 56) तक निरंतर होता रहा । परन्तु इन नवीन नाटकों को देखने पर भी जनता के मन से डी.एल. राय

और गिरीश घोष जैसे लेखक-अभिनेताओं की याद मिटती नहीं । फिर भी बंगला रंगमंच' और उसका' भविष्य उज्ज्वल है । कई व्यावसायिक रंगभवन है, जहां नियमित रूप से नाटकों का अभिनय एकाधिक बार होता है । अन्य प्रादेशिक रंगमंचों की अपेक्षा बंगला रंगमंच अभी भी बहुत प्रगतिशील एवं लोकप्रिय है तथा बादल सरकार अरुण मुखर्जी, मनोज मिश्र, साँवली घोष उत्पल्ल दत्त सरीखे रंगकर्मियों का योगदान बंगला रंगमंच में नई जिजीविषा का संचार कर रहा है ।

32.8 हिन्दी रंगमंच

हिन्दी में नाटक और रंगमंच की परम्परा पर्याप्त समृद्ध रही है । मध्ययुग से ही वैष्णवधर्म भावना से अनुप्राणित संगीत नाटकों के अभिनय की परपरा चलती रही । नेपाल, मिथिला, असम और बुंदेलखण्ड के शासक इस परंपरा का पोषण और संवर्द्धन किया करते थे । संस्कृत नाटकों में काव्य का जो मधुर स्फुरण हुआ उसका प्रभाव विद्यापति, चण्डीदास, शंकरदेव और उमापति जैसे कवियों के माध्यम से इन संगीत-नाटकों पर भी पड़ा ।

रामलीला और कृष्णलीला की परम्पराएँ उत्तर भारत में सदियों से प्रचलित थीं । भारतेंदु से पूर्व कृष्ण-लीलाएँ, मुस्लिम शासन काल के संध्याकाल मे अवध के नवाब वाजिद अलीशाह के दरबार में खूब लोकप्रिय हुई। नवाब साहब स्वयं कृष्ण बनते थे और उनके रंगमहल की वेश्याएँ गोपियों की भूमिका में प्रस्तुत होती थीं । नवाब के आदेश से ही 1853 में अमानत ने 'इन्दर सभा' की रचना की थी । (देखिए संलग्न चित्र)

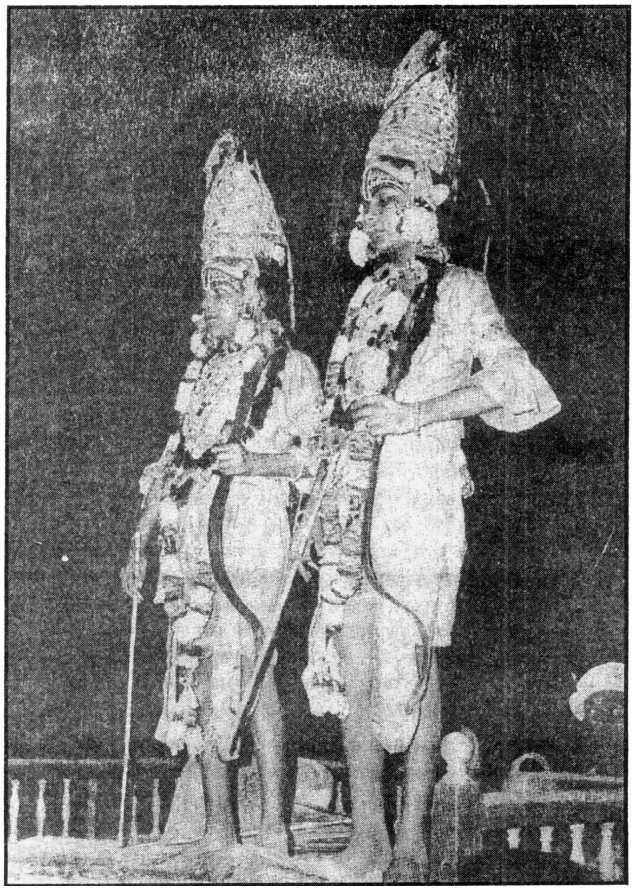

भारतेन्दु के उदय से पूर्व पारसी थियेटर कम्पनियाँ हिन्दुस्तानी नाटकों का प्रदर्शन आरंभ कर चुकी थीं परन्तु इन नाटकों में सुरुचि और कलात्मक परिष्कार नहीं था । भारतेन्दु द्वारा हिन्दी रंगमंच का अवतरण इन्हीं परिस्थितियों में हुआ । भारतेन्दु नाट्य-लेखक और प्रयोक्ता थे । हिन्दी रंगमंच के पुनरुद्धार वे सुरुचिपूर्ण, कलात्मक और भव्य रंगमंच की स्थापना करना चाहते थे अतः भारतेन्दु ने पूर्व से अपने मध्यकाल को छूती हुई हिन्दी रंगमंच की जो सुदीर्घ परंपरा चली आ रही थी उसे नया रूप और नया रंग दिया ।

नाटककार के रूप में भारतेन्दु ने प्राच्य और पाश्चात्य नाट्य-शैलियों का समन्वय किया । भारत की परतंत्रता के कारण 'भारत दुर्दशा' और

प्रेम जोगिनी' में सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय नव-जागरण का संदेश बहुत मुखर है ।

भारतेन्दु हिन्दी रंगमंच के उत्थान के लिए आजीवन सक्रिय रहे। उनसे प्रेरणा पाकर उनके समकालीन देवकीनन्दन चौधरी ने 'सीताहरण ', शिवनन्दन सहाय ने ' कृष्ण -सुदामा', राधाचरण गोस्वामी ने ' अमरसिंह राठौर' और लाला श्रीनिवासदास ने ' रणधीर प्रेम-मोहिनी' की रचना की । भारतेन्दु का रचनाकाल अत्यन्त स्वल्प था अत: गिरीश घोष की तरह हिन्दी रंगमंच का निर्माण भारतेन्दु नहीं कर सके ।

भारतेन्दु के उपरान्त हिन्दी- क्षेत्र के बड़े नगरों में कई नाट्य-मंडलियों की स्थापना हुई । रामलीला नाटक-मंडली (1898) और हिन्दी नाट्य-समिति (1908) इलाहाबाद के द्वारा 'सीता- स्वयंवर', 'महाराणा प्रताप' और 'महाभारत पूर्वार्द्ध' का प्रदर्शन हुआ । ठीक इसके बाद ही काशी में 'भारतेन्दु नाट्य-मंडली' और काशी नागरिक 'नाट्य-मंडली' की स्थापना 1909 में हुई । ये नाट्यमंडलियाँ भारतेन्दु एवं अन्य नाटककारों के नाटकों का प्रदर्शन करती थीं । हिन्दी रंगमंच के इतिहास में पंडित माधव शुक्ल की देन भी चिरस्मरणीय रहेगी । इन्होंने कलकत्ता में 'हिन्दी नाट्य - परिवार' की स्थापना कर वर्षों तक पारसी थियेटरों की तुलना में हिन्दी रंगमंच को जीवन और गति दी । यद्यपि इन संस्थाओं तारा मंचित नाटकों पर पारसी थियेटर कम्पनियों का प्रभाव कम न था परन्तु इनमें नाटकीय कौतूहल और मोहक दृश्य- विधान की अपेक्षा प्रांजल भाषा, काव्यात्मक गीत एवं आदर्शवाद के प्रस्तुतीकरण पर अधिक बल दिया जाता था । इस तरह लगभग दो दशकों तक (1900 से 1925 तक) पारसी एवं अव्यावसायिक नाट्य-मंडलियाँ नाटकों का प्रदर्शन करती रहीं । इस काल में हिन्दी रंगमंच के महान् अग्रदूतों में आगा हस्त्र काश्मीरी, राधेश्याम पाठक, नारायणप्रसाद बेताब, तुलसीदत्त शैदा और हरिकृष्ण जौहर मुख्य हैं । राधेश्याम के 'वीर अभिमन्यु', हस्र के 'सूरदास' और 'सीता वनवास' आदि नाटकों को पारसी थियेटर कम्पनियों ने भी अपना लिया ।

हिन्दी ' नाट्य की इसी पृष्ठभूमि में जयशंकर प्रसाद का अवतरण हुआ । वे नाट्यरचयिता थे, नाट्य-प्रयोक्ता नहीं । उन्होंने मुख्यत: ऐतिहासिक नाटकों की रचना की । लेकिन पाठ्य -काव्य की दृष्टि से ये नाटक जितने ही रसस्निग्ध हैं, अभिनय किंवा अभिनेयता की दृष्टि से उतने ही जटिल और क्लिष्ट । इसीलिए ' ध्रुवस्वामिनी', 'स्कन्दगुप्त' और ' चन्द्रगुप्त' के सफल प्रदर्शन कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के समारोहों पर होते रहे हैं । भाषा की अतिशय काव्यात्मकता के कारण सामान्य लोकरुचि उन्हें स्वीकार न पाई । भारत की प्राचीन कथा-भूमि पर ही रामकुमार वर्मा ने ' चारुमित्रा', जगदीशचन्द्र माथुर ने 'कोणार्क', श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने ' अम्बपाली' और 'नेत्रदान', पृथ्वीनाथ शर्मा ने 'उर्मिला' और सीताराम चतुर्वेदी ने 'सेनापति पुष्यमित्र' नामक नाटकों की रचना कर प्रसाद की नाटक परंपरा का पुनरुत्थान किया ।

प्रसाद के रचनाकाल में ही जॉर्ज बर्नार्ड शॉ, इब्सन आदि के क्रान्तिकारी विचारों से प्रभावित होकर आदर्श-विरोधी, यथार्थवादी, व्यंग्यप्रधान, मनोविश्लेषणवादी तथा साम्यवादी विचारों की छाया में विभिन्न शैलियों में लिखे गए लक्ष्मीनारायण मिश्र गोविन्ददास एवं उपन्द्रनाथ अश्क आदि के नाटक भी प्रकाश में आये । नाट्य-रचना की दृष्टि से इन नाटकों में नाटकीयता, जीवन की मधुरता र भावों की प्राणवत्ता की मर्मस्मपर्शी प्रस्फुटन हुआ । यशपाल, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण मिश्र, लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश और धर्मवीर भारती हिन्दी की नवीन नाट्यधारा के प्रर्वतकों में से

हैं । फिर भी इन नाटकों का प्रदर्शन अधिकतर अव्यावसायिक नाट्य-मंडलियों द्वारा ही होता रहा है । हिन्दी नाटकों के प्रदर्शन के लिए व्यावसायिक नाट्य-मंडली का अभाव हिन्दी रंगमंच के उत्कर्ष में बाधक है । सभवत: इसी सत्य को पहचान कर पृथ्वीराज कपूर ने सन् 1944 में पृथ्वी थियेटर्स की स्थापना की । यद्यपि यह व्यावसायिक रंगमंच था परन्तु इसका आदर्श था, कला की सेवा । पृथ्वीराजजी ने इसी भावना से अनुप्राणित हो ' शकुन्तला', 'दीवार', 'गद्दार', ' पठान' ' आहुति, ' कलाकार' और 'किसान' का बम्बई एवं देश के विभिन्न नगरों में प्रदर्शन किया ।

पृथ्वी थियेटर्स के प्रदर्शनों के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली । कालान्तर में बम्बई, दिल्ली, काशी, पटना और जबलपुर आदि में नई नाट्य-संस्थाओं ने जन्म लिया और नयी शैली के रंगभवनो की रचना हुई है । ये संस्थाएँ हिन्दी नाटकों के साथ अंग्रेजी के नाटकों को अपने मूल व अनूदित रूप में प्रस्तुत करने के साथ संस्कृत के रूपान्तर भी प्रस्तुत कर रही है । बम्बई की थियेटर यूनिट ने ' अंधा युग' और 'नाटक तोता-मैना' का प्रदर्शन कर यश उपार्जित किया है । दिल्ली नाट्य संघ ने संस्कृत नाटकों में मुद्राराक्षस प्रस्तुत किया है । जबलपुर के परिक्रामी रंगमंच की भी अत्यन्त प्रसिद्धि है । नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा दिल्ली में अभिनय की शिक्षा देने में तल्लीन है । इसके द्वारा विदेशी नाटकों के अनूदित एवं मूल नाटकों के अनेक सफल प्रदर्शन हुए हैं। इस ड्रामा स्कूल में साथ में पुस्तकालय, रंगशाला तथा नाट्य -प्रयोगशाला (वर्कशॉप) भी हैं । इस संस्थान ने इब्राहिम अल्काजी, वी. वी. कारंत आदि कुशल निर्देशकों के माध्यम से हर क्षेत्र में रंगकर्मियों की प्रशिक्षित जमात खड़ी की है । आधुनिक काल में सुरेन्द्र वर्मा, शंकर शेष, मणि मधुकर, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शरद जोशी आदि के नाटकों ने हिन्दी रंगमंच को नई दिशा प्रदान की है । हबीब तनीवर, सत्यदेव दुबे, एम. के. रैना, श्यामानन्द जलान, मोहन महर्षि, भानुभारती आदि अनेक नाट्य निर्देशक भी अभिनव प्रयोगों के द्वारा हिन्दी रंगमंच को पुष्ट कर रहे हैं । इससे आशा बंधती है कि आज के हिन्दी रंगमंच का भविष्य उज्जवल है ।

32.9 तमिल रंगमंच

दक्षिण भारत मे आधुनिक रंगमंच की परम्परा उत्तरी भारत के समान न तो उतनी आधुनिक ही है और न उतनी समृद्ध ही । 19वीं सदी के अंत तक तमिलनाडु में अभिनीत नाटकों का स्तर इतना नीचा था कि 'भद्र परिवार के माता-पिता अपने परिवार के किसी सदस्य को नाटक देखने की स्वतन्त्रता नहीं देते थे । नाटकों की कथावस्तु प्राय: घिसी-पिटी पौराणिक होती थी । ये तथाकथित नाटक गीत-प्रधान होते थे । संवाद का कोई सुनिश्चित लिखित रूप नहीं था । गीतों के मध्य उन संवादों को वे पात्र अपनी इच्छा से भर देते थे । आरम्भ में न नाटक अच्छे थे, न प्रयोक्ता और न उनका रंगमंचीय संगठन ही ।

तमिल में रंगमंच के उद्धार के लिए अव्यवसायी शिक्षित नाट्य - मंडलियाँ उन्नीसवीं सदी के आरम्भ से ही प्रयत्नशील हुई । 1890 में वेल्लरी के कृष्णमाचारी ने 'सरस विनोदिनी सभा' की स्थापना की । धीरे- धीरे शिक्षित जनों का ध्यान इधर आकर्षित हुआ । इन्होंने पी एस. मुदालियर के नेतृत्व में ' सगुणविलास सभा' की स्थापना भी की । मुदालियर महोदय महान अभिनेता थे । तमिल रंगमंच के विकास की दिशा मे उन्होंने ऐतिहासिक महत्व का प्रयत्न किया है । इसके अतिरिक्त म्यूजियम थियेटर, कन्हैया एण्ड कम्पनी तथा बाल-विनोद नाटक सभा जैसी संस्थाएँ भी रंगमंच के उत्थान के

लिए खुलीं । इन सभाओं दारा तमिल रंगमंच का स्तर उन्नत हुआ और नाटकों के अभिनय ने भी नया स्वरूप और शक्ति प्राप्त की । इन नाट्य-मंडलियों के प्रयत्न से ही व्यावसायिक नाट्य-कम्पनियों को असम्भ्रन्तता एवं अन्य त्रुटियों धीरे- धीरे दूर हो सकीं । आधुनिक काल में इन्द्र पार्थसारथी, मुत्थुस्वामी, त्यागराजन, चोरामास्वामी आदि प्रमुख तमिल नाट्यकार हैं ।

32.10 तेलगू रंगमंच

तेलगू रंगमंच की परम्परा बहुत पुरानी है । पद, 'भजन और गेय काव्य भी बहुत लोकप्रिय थे । बाद मे भागवतमु और भमकलापयु का प्रदर्शन होता था । इनमें कृष्ण-कथा नृत्य संगीत के माध्यम से प्रस्तुत की जाती थी । छाया नाट्य और यक्ष गान आदि भी खूब लोकप्रिय हुए । इनकी भाषा स्थानीय होती थी । परन्तु आधुनिक तेलगू रंगमंच का जन्म उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में हुआ ।' चित्रनलीयम् ' संभवत: तेलगू नाटक था जिसका प्रदर्शन आन्ध्र नाटक पितामह लेखक- अभिनेता कृष्णमाचार्य ने प्रस्तुत किया था । इन्होंने लगभग तीस नाटक प्रस्तुत किए, जिनमें शार्ड.ग्धर, प्रहलाद और अजामिल मुख्य हैं । इसी के आसपास श्रीनिवास राव ने भी रामराज, शिलादित्य और कालिदास का प्रदर्शन वेल्लारी में किया ।

आन्ध्र मे कई उच्चकोटि के अभिनेता हुए । सन् 1919 में गुजरादा अप्पावराव का ' कन्या सुलक्कम ' प्रस्तुत हुआ जिसमें गोविन्द राजुल्य ने गिरीशम् ' की प्रभावशाली भूमिका की थी । सामाजिक नाटकों में भी यह नाटक एक आदर्श बना रहा । तेलगू नाटक के इतिहास में राजमन्नार के ' थप्प वरीडी ' का बडा महत्व है । आन्ध के महान् अभिनेता टी राघवाचारि ने पुंगल (पोंगल) के अवसर पर ' म्यूजियम थियेटर' मद्रास में इसे प्रस्तुत किया । राजमन्नार अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के नाट्य-लेखक हैं । 1930 - 40 के बीच मधुकृष्ण के ' अशोकम् ' चलम् के ' चित्रांगी ' और शशांक एवं संस्कृति की एक रूपरेखा' ' कविराजु के ' शंबूक वध' तथा ' खूनी' का अभिनय हुआ । स्वाधीनता के उपरान्त आन्ध्र मे कई नाटक-मंडलियाँ काम कर रही हैं और एकांकी नाटक और रेडियो -रूपकों की रचना बड़ी तेजी से हो रही है । आन्य नाटक कला परिषद, ' तेलगू लिट्ल थियेटर' और ' आन्ध्र थियेटर फेडरेशन' नामक संस्थाएँ नाट्य-प्रदर्शन कर रंगमंच को लोकप्रिय बनाने की दिशा में प्रयत्नशील हैं । आधुनिक युग में बी. रामदास, कुंदुरथी, अत्रे तथा पी. पी. राजमन्नाद ने तेलगू रंगमंच की प्रभाव परिधि बढाने में सशक्त योगदान दिया है ।

32.11 कन्नड़ रंगमंच

कन्नड़ रंगमंच का ऐतिहासिक विकास सुनिश्चित नहीं है । बिना व्यावसायिक नाट्य- मंडली के रंगमंच की वास्तविक प्रगति की कल्पना नहीं की जा सकती । दुर्भाग्य से वे कन्नड़ में, नाट्य व्यवसाय के रूप में प्रभावी नहीं रही । दत्तात्रेय नाटक मंडली और विश्वगणादर्श नाटक-मंडली ने कन्नड़ के रंगमंच को गति और शक्ति दी है । कन्नड़ में अंग्रेजी और संस्कृत नाटकों के रूपांतर तो प्रस्तुत हुए परकन्नड़ का नाटक अरसे तक अभिनीत नहीं हो सका । बड़ी कठिनाई से गुंबी वीरन्ना की गुंबी थियेट्रिकल कम्पनी ने पौराणिक एवं अन्यप्रकार के नाटकों के प्रदर्शनों द्वारा कन्नड़ रंगमंच को जीवित रखा है । पिछले कुछ वर्षों में कन्नड़ रंगमंच का उत्थान और पावन होता रहा है । कन्नड़ के निर्माण में स्व. टी.वी. कैलासम्, श्रीनारायण राव और श्रीरंग के नाम अविस्मरणीय रहेंगे । तोलुगति और होमरुलु द्वारा

कैलासम् ने अभिनय की नई परम्पराओं का सृजन किया है । नारायणराव रचित स्त्री धर्म -रहस्य संभवत: कन्नड़ का पहला आधुनिक मौलिक नाटक था । इन नाटककारों ने कन्नड़ रंगमंच के लिए ही नाटकों की रचना की थी । आधुनिक युग में शिवराम कारन्थ, ए. एन. कृष्णाराव, लक्ष्मणराव, आद्यरंगाचार्य, गिरीश करनाड तथा चन्द्रशेखर कम्बार कन्नड़ रंगमंच की उन्नति में संलग्न हैं ।

32.12 मलयालम रंगमंच

नाट्यकला के सभी देशी रूपों में ' कथकली ' केरल के लोक-जीवन की आकांक्षा और भावनाओं का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि है । कथकली की कला जितनी सूक्ष्म और जटिल है उतनी ही विशुद्ध भी । वेष और मुखौटों की रचना, काव्य की कोमलता, गीत-वाद्य-नृत्य का योग और आँगिक भाव- भंगिमाएँ - 'कथकली' को पूर्णता प्रदान करती है । अभिनेता अपने अभिनय की कुशलता से संधिम और वेष्टिम आदि आहार्य साधनों के बिना ही दर्शकों को पृथ्वी से स्वर्ग तक ने जाता है । और श्रृंगार, वीर, करुण और रौद्र आदि रसों की लहरों में लीन कर देता है । कथकली के साथ केरल में प्राचीन काल से ही संस्कृत नाटक भी अभिनीत होते थे । केरल में वर्षों तक संस्कृत नाटकों के मलयालम रूपान्तर भी अभिनीत होते रहे हैं ।

मलयालम के नाटक नाट्य- शैली के प्रभाव में भी लिखे गए हैं । रंगमंच के माध्यम से सामाजिक समस्याओं के समाधान की खोज की गई है । अनुकरण की लहर मध्य में भी कन्निकर एम. पद्यनाथ पिल्लई तथा एम. कुमार पिल्लई ने उससे उपर उठकर अपने नाटकों द्वारा मूल मानवीय संवेदनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान की है । सामाजिक समस्याओं का प्रस्तुतिकरण इनके नाट्य -प्रयोगों में बड़ा ही मर्मस्पर्शी हुआ है । केरल में भी स्थायी रंगमंच की रचना का प्रयास हो रहा है । 'कलानिलयम्' नामक नाट्य-संस्था अस्थायी नाटक भवन में कई महत्वपूर्ण रंगमंचीय नाटकों को प्रस्तुत कर चुकी है । कुरुक्षेत्र देवदासी तथा नूरजहाँ के प्रदर्शनों ने इस संस्था को बडा गौरव प्रदान किया है । थोपलभासी ने 'तुमने मुझे कम्यूनिस्ट बनाया' जैसे प्रसिद्ध नाटक को ' केरल पीपुल्स आर्ट क्लब' ने प्रस्तुत कर यश उपार्जित किया है । पन्नकुनम वर्की. के वी. पन्निकर तथा जी. शंकर पिल्लई ने अपने नाटकों से मलयालम रंगमंच के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है ।

32.13 इकाई सारांश

दक्षिण भारतीय रंगमंच का इतिहास भले ही उत्तर भारतीय रंगमंच जैसा गौरवमय न रहा हो भी यह स्वीकार करना होगा कि आधुनिक युग में नव्य नाट्य-शैलियों के भरपूर प्रयोग वहॉ पर भी हो रहे हैं । इसे दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि अब दक्षिण भारतीय रंगमंच सही दिशा मे अग्रसर होकर नूतन व पुरातन का उचित सन्निवेश कर रहा है । अत: इस रंगमंच की विपुल उपलब्धि प्राप्त करने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता ।

भारतीय नाटकों के संदर्भ में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि जहाँ पारम्परिक नाटक मिथक आख्यान अथवा लोककथाओं पर आधारित थे वहीं आधुनिक नाटक अपनी परम्परा के साथ यूरोपीय रंगमंच के प्रभाव तथा बनार्ड शॉ, इब्सन, सैमुअल बैकेट, एवं बर्तोल्लस ब्रेख्त आदि की रचना प्रक्रिया से नया रूप धारण कर सामने आए । भारतीय भावभूमि तथा पाश्चात्य कला जगत के सम्मिश्रण ने अनेक अभिनव नाट्य प्रयोगों को जन्म दिया । रंगमंच पर प्रस्तुतिकरण की दृष्टि से भी ये नाटक निरन्तर सराहे गए । इन नाटकों में गिरीश करनाड का हयवदन (कन्नड़), अत्रे का नौन गजेटेड ऑफिसर (तेलगू

विजय तेंदुलकर कृत घासीराम कोतवाल (मराठी) कावालम नारायण पन्निकर का पशु गायत्री तथा जी शंकर पिल्लई का किरात (मलयालम), अरुण मुखर्जी कृत मारीच संवाद एवं साँवली घोष रचित नाथवती अनाथवत (बंगला), हबीब तनवीर का चरनदास चोर (छत्तीसगढी) सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का बकरी (हिन्दी), रतन कुमार थियम लिखित उचेक लेंगमेई डींग (मणिपुरी), बकुल त्रिपाठी का लीला (गुजराती) तथा चो रामास्वामी का तोता बोला (तमिल) आदि प्रमुख हैं । सर्वथा नूतन अंतर्दृष्टि से ओतप्रोत ये नाटक भारतीय रंगमंच को एक नई गति व शक्ति प्रदान कर रहे हैं ।

32.15 प्रासांगिक पठनीय ग्रन्थ

1. भारतीय रंगमंच - डॉ. अज्ञात (हिन्दी संस्थान, कानपुर)
2. रंगदर्शन - नेमीचन्द्र जैन
3. भारतीय नाट्य परम्परा - नेमीचन्द्र जैन (म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी)
4. नाट्य प्रस्तुति एक परिचय -रमेश राजहंस (राजकमल प्रकाशन)
5. रंगमंच - बलवंत गार्गी (राजकमल प्रकाशन)
6. भरत और भारतीय नाट्य कला - सुरेन्द्र नाथ दीक्षित (राजकमल प्रकाशन)

32.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों के उत्तर 150 शब्दों में दीजिए -

1. संस्कृत नाटक किस प्रकार विभाजित होते थे ।
2. रामलीला का नाटकों पर किस प्रकार का प्रभाव पड़ा ।
3. पृथ्वी थियेटर का योगदान समझाइये ।
4. उत्तरी एवं दक्षिणी भारत के नाटकों में मुख्य अन्तर क्या है ।

(आ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिए -

1. पारसी नाटकों की विशेषताएं एवं प्रभाव समझाइये ।
2. पुनर्जागरण आन्दोलन का बंगला एवं मराठी नाटकों पर क्या प्रभाव पड़ा ।
3. भारतेन्दु का हिन्दी नाटक को क्या योगदान है?
4. कन्नड़ रंगमंच की क्या विशेषताएँ हैं ।

इकाई 12 : "भारतीय रंगमंच की लोकधर्मी परम्पराएँ"

इकाई संरचना

33.1 उद्देश्य

33.2 प्रस्तावना

33.3 रासलीला एवं रामलीला

33.4 माच (ख्याल)

33.5 नौटंकी

33.6 स्वांग

33.7 भगत

33.8 भवाई

33.9 जात्रा

33.10 गंभीरा

33.11 कीर्तनिया

33.12 अंकिया

33.13 बिर्दोसया

33.14 जट्ट - जट्टानी

33.15 गोंधल

33.16 ललित

33.17 दशावतार

33.18 तमाशा

33.19 रम्मत

33.20 गवरी

33.21 फड़

33.22 कड़ा

33.23 छऊ

33.24 यक्षज्ञान

33.25 भागवत मेला

33.26 कुचिपड़ी

33.27 तीरू कुथू तथा विधि नाटकम

33.28 कामनकोट्ट

33.29 पागलवेशम्

33.30 बारा कथा

33.31 पुतलियों का खेल

33.32 इकाई सारांश

33.33 अभ्यासार्थ प्रश्न

33.34 प्रासांगिक पठनीय ग्रन्थ

33.1 उद्देश्य

प्राचीन भारतीय कलाओं और साहित्य का इतिहास बहुत स्पष्ट नहीं है । रंगमंच की दृष्टि से भी सर्वप्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ भरत का नाट्यशास्त्र ही प्राप्त होता है । नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व अथवा बाद में लिखे गए नाटक, रामायण, महाभारत, वेद- पुराणादि में प्राप्य उल्लेखों के आधार पर रंगमंच के इतिहास की परिकल्पना की जा सकती है । अपनी शास्त्रीय परम्परा एवं स्वरूप के कारण संस्कृत नाटक अभिजात्य वर्ग के मनोरंजन हेतु ही हुआ करते थे ऐसी कल्पना की जा सकती है । संस्कृत नाटकों की भाषा भी जनसामान्य के लिए गढ होती थी अत: ये नाटक लोक जीवन का स्पर्श कर पाने मे सक्षम नहीं थे । सम्भवत: इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए नाटककारों द्वारा संस्कृत नाटकों में सामान्य पात्रों के लिए प्राकृत भाषा मे संवाद रचे गये । इस प्रकार के नाटक जनता के निकट तो आए फिर भी जन रुचि अपने परंपरागत मनोरंजन के साधनों से जितनी जुड़ी रही उतनी ही शास्त्रीय नाटकों से नहीं जुड़ पाई । जन रुचि के प्रभाव से रंगमंच की नाट्यधमी परंपरा के समानान्तर उस लोक धर्मी परंपरा का विकास भी हुआ । वे जनता के मनोरंजन के लिए समय व परिस्थितियों के बदलाव के साथ स्वयं को निरन्तर ढालती रहा । इस इकाई में आप जनरुचि, जन भागीरदारी व जन मनोरंजन का ऐतिहासिक व सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में परिचय पायेंगे ।

33.2 प्रस्तावना

भारतीय रंगमंच की इस लोक धर्मी परंपरा के संदर्भ मे श्री नेमीचन्द्र जैन ने अपनी पुस्तक 'भारतीय नाट्य परंपरा' में महत्वपूर्ण उद्भावना की है । उनका कथन है कि " जिस समय संस्कृत रंगमंच उपलब्धियों के शिखर पर रहा होगा , उन दिनों भी देश के विभिन्न क्षेत्रों मे उनकी अपनी स्थानीय नाट्य पद्धतियाँ अवश्य मौजूद रही होगीं -नाट्यशास्त्र मे दाक्षिणत्य, आवती, पांचाल, मध्यम और औड्मागधी आदि प्रवृत्तियों की, और अन्य ग्रन्थों मे उपरूपकों की जो चर्चा है, वह बहुत कुछ इसी स्थिति की ओर स्पष्ट और निश्चित संकेत करती है । यह अनुमान किया जा सकता है कि संस्कृत रंगमंच के निष्क्रिय होने के बाद उसके विभिन्न केन्द्रों के नाट्यगुरु, अभिनेता आदि, रुचि, संरक्षण और दर्शक समुदाय के कम होने पर, धीरे- धीरे उन केन्द्रों को छोड़कर अपने - अपने या दूसरे प्रदेशों मे जाकर वहाँ के लोकप्रिय रंगकार्य से जुड़े होंगे । इस प्रकार संस्कृत रंगमंच की अधिक समृद्ध और विकसित पद्धतियों का लोक जीवन की सहज किन्तु जीवंत शैलियों के साथ मेल हुआ होगा । वास्तव में यह मेल या परस्पर आदान-प्रदान की प्रक्रिया एक ही नहीं अनेक स्तरों पर घटित हुई -मार्गी और देशी के बीच, बहु प्रदेशीय और स्थानीय, कालातीत या क्लासिकी और तात्कालिक, धार्मिक और लौकिक, लिखित और मौखिक के बीच । इसमें भाषाई, प्रदर्शनमूलक, रूपकारी, सभी प्रकार के अभिव्यक्ति - माध्यमों का परस्पर लेन-देन हुआ और सभी प्रभावित हुए ।"

भारतीय लोक रंजन की यह रंगमंचीय परम्परा पाश्चात्य ' फोक थियेटर' का पर्याय नहीं कही जा सकती । फोक थियेटर ग्रामीण आदिवासी या कृषि निर्भर समाज की सरल, सहज, स्वत: प्रसूत या स्वस्फूर्त कला है जबकि इस भारतीय परम्परा में अधिकांश शैलियों की रचना पद्धति जटिल होने के कारण गहन शिक्षण की अपेक्षा रहती है । यही कारण है कि इसे रंगमंच की लोक धर्मी परंपरा या

पारंपरिक रंगमंच कहना अधिक उपयुक्त है । भारतीय रंगमंच की इस परम्परा को विभिन्न प्रदेशों में मुख्यत: निम्न रूप प्रचलित हैं -

33.3 रासलीला एवं रामलीला

रास शब्द की उत्पत्ति के विषय में मतभेद है । कुछ विद्वान रास को लोक भाषा का शब्द मानते हैं तो कुछ इसकी व्युत्पत्ति रसों के समूह के अर्थ में करते हैं । श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि कुछ अन्य विद्वान सरसे, रासक, रसायण आदि शब्दों के आधार पर रास को देशीय शब्द ही स्वीकार करते हैं । 'लीला ' शब्द क्रिया वाचक है । शब्दों की इस शास्त्रीय बहस से अलग ' रस' रास का प्रमुख तत्व है । रास के नायक भगवान श्रीकृष्ण नटवर नागर या रस नागर के रूप में प्रख्यात हैं

अत: रस से उन्हें आनन्द प्राप्त होता है । लीला से रस की सर्जना होती है अतएव रासलीला भगवान कृष्ण की रसात्मक क्रीडा है। मध्यकाल में कृष्ण को नायक, राधिका को नायिका, कंस को खलनायक और गोपियों को पात्र के रूप मे प्रस्तुत करने वाली लीलाएँ रंगमंच का विषय बनीं । इन लीलाओं का केन्द्र ब्रज भूमि रही है । पंद्रहवी सोलहवीं शताब्दी में दान-लीला, मान-लीला, ग्वाल बालों की ठिठोली, माखन-चोरी आदि कृष्ण चरित्र प्रधान घटनाएँ तत्कालीन कवियों के काव्यों के आधार पर अभिनीत हुई । कालांतर में जनरुचि पर पड़े रीतिकालीन प्रभाव एवं अभिनय प्रसाधनों के विकास से रासलीला में श्रृंगार का प्रभाव बढ़ता गया । खुले रंगमंच पर की जाने वाली यह लीला वास्तव में कृष्ण चरित्र से संबंधित प्रसंगों का नृत्य एवं अभिनय के द्वारा किया गया मधुर प्रस्तुतीकरण है । नृत्य के साथ संगीत का प्रभाव इसमें अधिक है, संवाद अपेक्षाकृत कम प्रयुक्त होते हैं। उस- लीला के मूल में नायक कृष्ण के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति के अलावा शताब्दियों से चलो आ रही जनरुचि भी उत्तरदायी है जो इसे परंपरा के रूप में आज भी जीवित रखे हुए हैं ।

रामकथा के आदि प्रवर्तक महर्षि वाल्मीकि ने कहा था कि जब तक धरती पर पर्वत और नदिया विद्यमान रहेंगी तब तक यह राम-कथा संसार में प्रचलित रहेगी । इस कथन को शताब्दियाँ बीत गई किन्तु रामायण के राम, सीता, लक्ष्मण, भरत और रावण आज भी लोक मानस में रचे बसे हुए हैं । रामलीला राम के जीवन की घटनाओं का मंचीय प्रस्तुतीकरण है । कुछ विद्वानों के मतानुसार है आरम्भ करने का श्रेय रामचरितमानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास को है । संरचना का दृष्टि से भी रामचरितमानस मात्र पाठ्य ग्रन्थ नही है । लक्ष्मण-परशुराम संवाद, राम-केवट संवाद, रावण- मारीच संवाद आदि अनेक प्रसंग नाटकीय हैं । कथा-वाचन की दृष्टि से भी पाठक और धारक, क्रमश: राम कथा पढ़ने व व्याख्या करने का कार्य करते हैं । इस व्यवस्था में कभी-कभी अभिनय का समावेश भी हो जाता है ।

रामलीला को खेलने में अमूमन चौदह दिन का समय लगता है । हर रात रामचरित का एक निश्चित अंश खेला जाता है । पात्रों के मुकुट, मुखौटे आदि सुनहरे व रंगीन होते हैं । दर्शनीय श्रृंगार वाले यह पात्र मखमली या रेशमी वस्त्र धारण करते हैं जिनमें सलमे-सितारे जड़े रहते हैं । कई नगरों में रामलीला-प्रदर्शन एक ही मंच पर नहीं होता । अपेक्षित दृश्य के अनुकूल वातावरण का चुनाव प्रभाव बढ़ाने के लिए किया जाता है । उदाहरण के लिए राम के नदी पार करने का दृश्य किसी नदो, जलाशय या नहर पर किया जाता है । कालांतर में इस प्रकार का स्थान परिवर्तन रास लीला का विषय भी बन गया । इस दृष्टि से रामलीला का रंगमंच यथातथ्यवादी (रियलिस्टिक) है तथा कथावस्तु की महत्ता

बढाने में सहायक होता है । जहाँ इस प्रकार को सुविधा उपलब्ध नहीं है वही किसी विस्तृत मैदान के दो छोरों पर अयोध्या व लंका की परिकल्पना कर ली जाती है एवं मध्य में एक ऊँचे मंच पर अभिनय किया जाता है । प्रसंगानुसार राम एवं रावण अयोध्या या लंका से चलकर मंच तक आते हैं । इसी मैदान के अन्य भागों में आवश्यकतानुसार वनवास आदि के लिए कुटिया आदि का निर्माण भी कर लिया जाता है ।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल में रासलीला एवं रामलीला का पर्याप्त प्रचार-प्रसार हुआ । उत्तर भारत और मध्य भारत के बाहर सुदूर दक्षिण तक लीलाओं को पनपने का अवसर मिला किन्तु इन लीलाओं के स्वरूपगत भेद मिटने नहीं पाए । रास मे जहाँ कृष्ण को श्रृंगार रस का आधार मानकर श्रृंगारिक वर्णनों को प्राथमिकता दी गई वहीं रामलीला में राम के उदात्त चरित्र को बनाए रखा गया । कृष्ण की तुलना में राम मर्यादा पुरुषोत्तम की संज्ञा पाकर लोगों की आध्यात्मिक श्रद्धा का विषय बने रहे । यही कारण है कि लोक रंजन की आदिम प्रवृत्तियॉ रामलीला के माध्यम से तुष्टि नही पा सकीं । प्रसिद्धि की दृष्टि से वृन्दावन, मथुरा एवं हाथरस की रासलीलाएँ तथा बनारस के पास रामनगर, अयोध्या तथा दिल्ली की रामलीलाएँ प्रमुख हैं । उत्तर भारत की लोक परंपरा में इन लीलाओं के माध्यम से जन जीवन के कलात्मक तथा सांस्कृतिक रूप को सशक्त अभिव्यक्ति होती है।

33.4 माच (ख्याल)

मध्य भारतीय लोक धर्मी परम्परा (उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान) में माच या ख्याल का विशेष स्थान है । माच शब्द मंच निर्माण करने और उस पर अभिनीत होने वाले खेल या ख्याल दोनों का ही वाचक है । माच के मूल में मालवा में खेले जाने वाले ढारा-ढारी के खेल रहे हैं ऐसी कतिपय विद्वानों की धारणा है । ढारा-ढारी वे वीर हैं जो लोक जीवन में निर्बल अथवा शोषित वर्ग के सहायक के रूप में प्रसिद्ध रहे । यह भी संभव है कि मंदिरों में स्वाँग करने वाली राजस्थानी घाड़ी जाति के खेल ही कालांतर में ढारा-ढारी के खेलों के रूप में जाने गए हैं । माच की उत्पत्ति के विषय में भले ही मतभेद हो किन्तु इसमें संदेह नहीं कि तत्कालीन लोक मनोरंजन के साधनों से ही माच का विकास हुआ ।

माच खेलने के पूर्व स्तम्भ या खंभ स्थापना का मांगलिक आयोजन किया जाता है । किसी खुले स्थान पर माच के सभी कलाकार एकत्र होकर अपने गुरु। से शुभ मुहूर्त में रवंब का पूजन करवाते हैं । इसके बाद मजबूत खंबों पर पाँच से दस फुट ऊँचा मंच बनाया जाता है । मंच के ऊपर चार बल्लियों के सहारे रंग-बिरंगे कागज के फूलों से सजी सफेद चादर तान दी जाती है । मंच के चारों ओर फूल, पत्तों, रंगीन कपड़ों, पन्नियों आदि की झालरें लगाई जाती है । मंच चारों ओर से खुला होता है किन्तु मंच की सुरक्षा के लिए मंच के दो ओर पाट लगाए जाते हैं । मंच पर पीछे की ओर लगे एक पाट को 'बाहर घाट का पाट'' और दूसरे को ' टेक का पाट' कहते हैं। मंच के दूसरी - ओर लगे पाट पर कुछ वयोवृद्ध बैठते हैं जिनका कार्य त्रुटि होने पर अभिनेता को संकेत करना होता है । मंच के पृष्ठ भाग पर एक ओर प्रतीक रूप में गुरु का आसन होता है व अग्रभाग में एक ओर ढोलक तथा सारंगी आदि वाद्य यंत्रों का प्रयोग करने वाले कलाकार बैठते हैं । मंच के सामने वेदी के चार खंब और गाड़े जाते हैं जिनके निकट सोलह युवक, एक जमादार, एक थानेदार और एक ' बादशाह के बैठने की व्यवस्था होती है । पृष्ठभाग को छोड़कर मंच के तीनों ओर दर्शकों के लिए स्थान रहता है । प्रकाश के लिए प्राय: मशालों अथवा गैस बत्तियों (पैट्रोमैक्स) का प्रयोग किया जाता है । नेपथ्य आदि की व्यवस्था

न होने के कारण पात्र मंच के आस-पास कहीं भी परिधान आदि बदल लेते हैं । माच का प्रदर्शन आरम्भ होने के बाद सारी रात चलता रहता है ।

राजस्थान में माच' ख्याल ' के नाम से प्रचलित है । वस्तुत: तात्विक दृष्टि से माच एवं ख्याल भिन्न नहीं हैं । माच के आदि गुरु (प्रणेता) श्री बालमुकुन्द ने अपनी सभी माच रचनाओं को ख्याल ही कहा है । माच अथवा ख्याल की विषयवस्तु का आधार पौराणिक-ऐतिहासिक प्रसंग, लोककथा या प्रेमाख्यान ही होते हैं । विषयवस्तु में शौर्य के साथ-साथ प्रेम की अभिव्यंजना अनिवार्य है । राजस्थान में यह परम्परा प्रस्तुतिकरण की दृष्टि से अधिक विकसित हुई है । प्रदेश के भौगोलिक अन्तर ने ख्याल परम्परा को नए रूप प्रदान किए हैं । इन ख्यालों में लच्छीराम द्वारा प्रवर्तित ' कुचामनी', नानूराम द्वारा लोकप्रिय बनाई गई ' शेखावाटी',मेवाड़ के शाह अली तथा तुकनगीर नामक संतों द्वारा शिव एवं पार्वती को प्रतीक मानकर रची गई । 'तुर्रा कलंगी' तथा नए प्रयोगों को समाहित करने वाली 'जयपुरी' ख्याल शैलियाँ प्रमुख हैं ।

नाच की संगीत परक शैली में गायन कौशल के अतिरिक्त चरित्र की बारीकियाँ उजागर करने के लिए अन्य कोइ मार्ग नहीं है । स्त्री एवं पुरुष दोनों ही माच में भाग लेते हैं । प्रत्येक माच में प्राय: पाँच स्त्रियाँ अपेक्षित होती है अत: कभी-कभी उनकी संख्या पुरुषों से अधिक हो जाती है । माच के नायक का प्रमुख साथी शेरमारखाँ के नाम से जाना जाता है । यह पात्र नायक का सहायक होने के साथ -साथ जनता का मनोरंजन करने वाले विदूषक की भूमिका निभाता है । माच का लेखक अपने हाथ में माच लिखित बही लेकर अभिनेता का अनुसरण करता है । मंच प्रस्तुतिकरण के दौरान बही से पंक्तियाँ बोली जाती हैं और अभिनेता उन्हीं पंक्तियों को साज पर दुहराते हैं । अभिनय के समय वांछित पात्र मंच पर रहता है एवं पात्र मंच पर ही एक ओर हटकर खड़े रहते हैं । किसी अन्य पात्र के आगमन की सूचना पहले से अभिनय कर रहे पात्र द्वारा ही दी जाती है । अपनी भूमिका समाप्त हो जाने पर अथवा आवश्यकता न होने पर प्रत्येक पात्र शेष अभिनेताओं में मिल जाता है । प्रसिद्ध माच लेखकों में बालमुकुन्द गुरु, कालूराम उस्ताद, भैरू गुरु, नाथूसिंह उस्ताद सेवाराम परमार, शिवरामजी व्यास आदि प्रमुख हैं ।

33.5 नौटंकी

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में (ईस्वी सन् 1700) श्रृंगार का प्रभाव राजदरबार तक ही सीमित नहीं रहा अपितु आम जनता में भी इसका व्यापक प्रभाव पड़ा । इस श्रृंगारिक प्रभाव के कारण नाटक की लोक परम्परा में नौटंकी, स्वाँग, भगत आदि का आविर्भाव हुआ । उत्पत्ति की दृष्टि से कुछविद्वान नौटंकी को संस्कृत के सट्टक नामक उपरूपक से उदभूत कहते हैं । संस्कृत के ये उपरूपक लोक में प्रचलित वे नाट्य कर्म थे जिन पर शास्त्रीय बंधन लागू नहीं थे । यह भी सम्भव है कि नौटंकी का जन्म उर्दू कविता एवं लोक गीतों के मिश्रण से हुआ हो । पंजाब के लोक जीवन में रची- बसी हीर-रांझा की कथा पर 11 वीं, 12वीं शताब्दी में मल्ल जाट, रावत राजपूत और रंगा जुलाहा ने सम्भवत: सर्वप्रथम नौटंकी की रचना की थी । 13वीं शताब्दी में अमीर खुसरों ने नौटंकी के विकास में विशेष योग दिया । लोक-जीवन को भली भाँति समझने वाले कवि अमीर खुसरो की भाषा तथा वैसे ही छंद नौटंकी में एक लम्बे अरसे तक छाए रहे । 18वीं शताब्दी के अंत तक आते- आते नौटंकी सारे उत्तर भारत तक फैल चुकी थी और उसका सम्पर्क विभिन्न समाजों में प्रचलित लोक मनोरंजन के अन्य माध्यमों से भी होने लगा

था । इस कारण जहाँ एक ओर नौटंकी कला का विकास हुआ वहीं दूसरी ओर हास्य, श्रृंगार आदि के नाम पर अनेक भौंडे प्रदर्शन भी प्रविष्ट होने लगे जिनके फलस्वरूप नौटंकी का मूल स्वरूप विकृत हुआ।

नौटंकी मूलत: एक गीति नाट्य है । नौटंकी में किसी ऐतिहासिक शूरवीर, दयालु डाकू या प्रेमी-प्रेमिका की कथा वर्णित की जाती है । संवादों की भाषा प्रादेशिक होती है तथा संगीत संरचना लोकगीतों के आधार पर की जाती है । लकड़ी के तख्तों को जोड़कर मंच बनाया जाता ह और इस के तीनों ओर दर्शक बैठते हैं । सामने की ओर पर्दा नहीं होता किन्तु पीछे की ओर कनात लगाई जाती है । इस कनात के पीछे ही पात्रों का श्रृंगार कक्ष (मेकअप रूम) होता है । मंच के एक ओर साजिंदे बैठे रहते हैं । नौटंकी शुरू होने के पहले नगाड़ा बजाया जाता है । नगाड़े वाले का साथ सारंगी वादक देता है और हारमोनियम बजाने वाला (पेटी मास्टर) कोई तड़क्ली-भड़क्ली धुन छेड़ देता है । किशोर वय लड़के स्त्रियों की भूमिका करते हैं । मंडली के गुरु को रंगा कहते हैं । यह रंगा ही नौटंकी का निर्माता, निर्देशक, सूत्रधार सभी कुछ होता है । हर मंडली में एक हास्य अभिनेता भी होता है जिसे मखौलिया कहते हैं । नौटंकी में अभिनेता कई बार अपनी भूमिका पूरी कर दर्शकों के सामने ही मंच पर बैठ जाता है और पुन: अपनी बारी आने पर फिर अभिनय करने लगता है । नौटकिया गाँवों में बहुत लोकप्रिय हैं । पंजाब में नौटंकी वालों को रासधारी कहा जाता है । जिस गाँव में नौटंकी मंडली जाती है उसका सारा खर्चा आस-पास के गाँव वो मिलकर उठाते हैं । राजस्थान में भरतपुर, धौलपुर, करौली, अलवर, गंगापुर, सवाईमाधोपुर आदि जिलों में नौटंकी का काफी प्रचार है । राजस्थानी मंडलियों के खेलों में सत्य हरिश्चन्द्र, रूप बसन्त, नकाबपोश, राजा भरथरी आदि प्रमुख हैं । आज भी अनेक स्थानों पर शादी-ब्याह, मेले आदि लोक उत्सवों में नौटंकी का आयोजन करवाया जाता है ।

33.6 स्वाँग

उत्तर भारत में नौटंकी को स्वाँग या भगत भी कहा जाता है । स्वाँग विशुद्ध ग्रामीण मनोरंजन है । स्वाँग में मूँछ वाले पुरुष तक औरतों के कपड़े पहन कर मंच पर अभिनय करते हैं । मनोरंजन के लिए आदमी औरतों का और औरतें आदमी का स्वाँग धारण करती हैं । स्वाँग या भांडों का तमाशा मूलत: प्रहसन है । प्राय: एक भाँड आदमी बनता है दूसरा औरत । आदमी की भूमिका वाला अभिनेता, जिसे 'भइया' कहते हैं, औरत से सवाल पूछता है । औरत, उल्टे-सीधे जवाब देती है और बात को इतना हास्यास्पद बना देती है कि ' भइया' उसे मारता है । इस खेल में हास्य-व्यंग्य तथा सामाजिक व्यवस्था पर चोट से लेकर अश्लील मजाक तक होते हैं । स्वाँग प्रथा का एकल रूप बहुरूपिया है । महाराष्ट्र उत्तर भारत तथा उत्तरी पश्चिम भारत में आज भी उदर-पूर्ति हेतु स्वाँग करने वाले बहुरूपिये देखे जा सकते हैं । अपने नाम के अनुरूप बहुरूपिया वह व्यक्ति है जो अनेक रूप धारण कर सकता है । अनेक बहुरूपिये इस कला में इतने कुशल होते हैं कि उन्हें नए-नए रूपों में अभिनय करते देखने पर पहचानना मुश्किल हो जाता है। वे पुजारी से लेकर पुलिस अफसर तक कोई भी रूप धारण कर सकते हैं और उसी भाव भंगिमा में अभिनय कर धन कमाते हैं किन्तु लोगों को ठगना उनका पेशा नहीं हैं । खेल समाप्त कर वे लोगों को स्वयं अपना परिचय दे देते हैं । स्वाँग भरने की यह कला भारतवर्ष में बहुत पुरानी है । मुगलों और मराठों ने इस कला को बहुत प्रोत्साहन दिया था ।

33.7 भगत

ब्रज की ओर खुले रंगमंच पर स्वाँग या नौटंकी जैसी भगत होती है । ब्रज में आगरा और हाथरस की भगत प्रमुख हैं । हाथरस की भगत के प्रचारक नाथाराम हैं । उनकी लिखित पुस्तकें जिन्हें 'चौबेले ' कहा जाता है बाजार में मिलती हैं । हाथरस के चौबोले छोटी तान के होते हैं जबकि आगरा के चौबोले लंबी तान के हैं । आगरा की नौटंकियों में उर्दू के बहरे तबील (लंबे छंद) का प्रयोग ही लम्बी तान का मूल है । भगतों में अनेक प्रकार की लीलाएँ खेली जाती है जो सप्ताह भर तक चल सकती हैं । भगत का मंच माच की भाँति ऊँचाई लिए होता है । वीर रस के उत्कर्ष के लिए भगत में आल्हा छंद का प्रयोग क्रिया जाता है । मूलत: नौटंकी, स्वाँग और भगत तात्विक दृष्टि से एक ही है केवल स्थान भेद अथवा किंचित स्वरूप भेद के कारण ही इन्हें भिन्न नामों से जाना जाता है । काल भेद का दृष्टि से यदि देखें तो सम्भवत: स्वाँग प्राचीनतम है क्योंकि यह संस्कृत नाटक भाण के बहुत है । भगत का उदय मध्यकाल में संभवत: भक्ति सम्प्रदाय के प्रभाव स्वरूप हुआ जबकि नौटंकी रीतिकालीन परम्परा के कारण प्रसूत श्रृंगारिक प्रवृत्तियों की वजह से अस्तित्व में आई ।

33.8 भवाई

राजस्थान एवं गुजरात में भवाई नाट्य परम्परा प्रसिद्ध है । कहा जाता है कि चौदहवीं शताब्दी में संगीत तथा नृत्य में प्रवीण असाहित नामक एक ब्राह्मण को किसी अछूत स्त्री के साथ भोजन करने पर जाति से बाहर कर दिया गया । अपने जीवन यापन के लिए इस ब्राह्मण ने काव्य, संगीत, अभिनय आदि का आश्रय लिया । कालांतर में इसने अपने पुत्रों को यह कला सिखाई और इसी के माध्यम से भवाई का जन्म हुआ ।

कथ्य और शिल्प की दृष्टि से भवाई नाटक व्यवस्थित नहीं होते । इनके अभिनय के लिए किसी ऊँचे चबूतरे या जमीन पर कुछ लोग कपड़ा तानकर खड़े हो जाते हैं तथा नगाड़े तबले, भंगुल

(लम्बी भेरी) आदि वाद्य यंत्रों पर एकाकी अथवा समवेत स्वर में गाकर अभिनय करते हैं।आरंभ में गणपति वंदना करना भवाई का अनिवार्य अंग है। मूल नाटक वंदना के बाद आरंभ होता है। भवाई मंडली में प्राय: चौदह कलाकार होते हैं। नाटक के पूर्व एक व्यक्ति बीस फुट व्यास का खड़िया का एक घेरा बनाता है जिसे " पौढ' ' कहते हैं । यहीं नृत्य-गीत में प्रवीण सांजिदे, गायक आदि बैठते हैं और यहीं नाटक भी खेला जाता है । अभिनेता मुख पर कालिख लगाते हैं तथा लाल व सफेद रंग से रेखाऐं बनाते हैं । रात भर चलने वाले भवाई नाटकों के इन कलाकारों की शोभा ग्रामीण प्रकाश व्यवस्था में मनमोहक आभा बिखेरती है । भवाई में प्राय: वीर गाथाओं, धार्मिक कथाओं, दैनिक जीवन में संबद्ध घटनाओं आदि का अभिनय होता है । नाटक में विदूषक का चरित्र बहुत महत्वपूर्ण है । भवाई नाटक की सफलता बहुत बड़ी हद तक इस विदूषक पर ही निर्भर रहती है । पारम्परिक रूप से यह 'रंगलों ' कहा जाता है । भवाई नाटकों में स्त्री पात्रों का अभिनय पुरुष ही करते हैं । नाट्य प्रदर्शन के दौरान भी कुछ पात्र स्त्री वेश में नाचते-गाते हुए नाटक के मुख्य पात्रों की आवश्यकतानुसार सामग्री प्रदान करते हैं तथा लालटेन, मशाल आदि प्रकाश के उपकरणों की चमक बनाए रखते हैं । अभिनेता के चेहरे पर भाव दर्शक तक संप्रेषित करने के लिए यही लोग उसके मुख पर प्रकाश डालते हैं । भवाई में इन पात्रों से अंतर नहीं पड़ता । दर्शक इनकी ओर ध्यान तक नहीं देते । वस्तुत: ये पात्र जापानी नाटक ' काबुकी' के परछाँई पात्र (शैडो कैरेक्टर) की तरह होते हैं । परछाँई की भाँति मुख्य नाटकीय प्रदर्शन में इनका अस्तित्व होते हुए भी नहीं होता ।

रंगमंचीय लोक धर्मी परपरा में ' भवाई' लोक नृत्य का एक प्रकार भी माना जाता है । लोक नृत्य परपरा के आधिकारिक विद्वान् श्री देवीलाल सांभर के अनुसार इसकी उत्पत्ति राजस्थान और मालवा से हुई । केकड़ी के संगीत नृत्य प्रवीण जाट नागजी को तत्कालीन शौर्य समर्थक समाज ने भाँड या भवाई कह कर जाति से निकाल दिया । तब से इस परिवार के लोग भवाई कहे जाने लगे । आज भी जाट, डोंगी, भील, गूर्जर, कुमावत आदि जातियों के भवाई राजस्थान व मालवा में पाए जाते हैं । प्रदर्शन की दृष्टि से गुजरात के भवाई नाट्य राजस्थान व मालवा के नृत्य नाटकों से बहुत साम्य रखते हैं ।

33.9 जात्रा

संस्कृत शब्द यात्रा बंगला भाषा में जात्रा कहा जाता है । यात्रा और जुलूस या फेरी मोटे रूप में पर्यायवाची शब्द हैं । जात्रा एवं रासलीला दोनों का सम्बन्ध कृष्ण चरित के कीर्तन से हैं किन्तु रासलीला में जहाँ श्रीमद्भागवत पुराण, महाभारत आदि से सामग्री ली गई वही जात्रा में काव्य- संगीत-नृत्य के साथ नाटकीय तत्वों का आश्रय प्रचुरता से लिया गया । जात्रा के उद्भव के विषय में निश्चित रूप से

कह पाना सम्भव नहीं है । हो सकता है कि रथयात्रा सरीखे उत्सव, रास लीला, जन सामान्य में प्रचलित अपने उपास्य देवों का कीर्तन व स्वाँग इसके मूल में रहे हों । वैष्णव संप्रदाय के कृष्ण भक्तों ने जहाँ उत्तर भारत में रासलीला को अपनाया वहीं बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में जात्रा को प्रमुखता दी गई । ऐसी मान्यता है कि जात्रा में काव्य-संगीत नाटकीय क्रियाकलापों की नींव वस्तुत: जयदेव के गीत गोविन्द से पड़ी । कालांतर में गीत गोविन्द के न केवल अनुवाद किए गए अपितु उसका अनुकरण करते हुए अनेक काव्य ग्रंथ भी लिखे गए । इन कवियों में उमापति, चंडीदास, विद्यापति आदि प्रमुख हैं । काव्य विधा के साथ ही आख्यान परक गद्य विधा के लेखन ने वैष्णव भक्ति आन्दोलन को और बल प्रदान किया । इस सम्मिश्रण से वैष्णवीय जात्रा अभूतपूर्व रूप से उभरी और जन मानस में प्रतिष्ठित हुई । 13वीं से 15वीं शताब्दी तक कृष्ण लीला के आख्यान अपनी सभी विविधताओं के साथ कमोबेश रूप में जात्रा का विषय बने रहे किन्तु इनके साथ रामायण-महाभारत-पुराण आदि के आख्यान, शिव-चंडी आदि के गीत भी जन-मानस में उतने ही प्रचलित थे । इस वातावरण में पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में बंगाल में चैतन्य का आविर्भाव हुआ । चैतन्य महाप्रभु और उनके अनुयायियों ने सैयद वंश तथा लोधी वश के शासन काल में बंगाल में आर्थिक सामाजिक विकास के अवरोध को समाप्त करने हेतु सचेतन रूप से नाट्य के माध्यम का प्रयोग किया । चैतन्य की कृष्ण भक्ति के प्रभाव से कृष्ण की सगुण लीलाएँ अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत की जाने लगीं । यह निर्विवाद है कि जात्रा को कृष्णमय बना देने का सम्पूर्ण श्रेय श्री चैतन्य को ही दिया जा सकता है । चंडीदास, लोचनदास, वल्लभ, विद्यादास आदि भक्त कवियों की रचनाओं ने राधाकृष्ण को जात्रा का पर्याय बना दिया । इन जात्राओ के कारण जहाँ एक ओर वैष्णव धर्म का विकास हुआ वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक भूमि पर राष्ट्रीय एकता के बीज भी अंकुरित हुए । जात्रा की यह नूतन धारा मात्र बंगाल तक ही सीमित नहीं रही अपितु उड़ीसा, बिहार आदि को भी पार कर भारत के अन्य प्रदेशों में भी फैल गयी ।

अभिनय के लिए जात्रा का मंच किसी ऊँचे स्थान पर बनाया जाता है । सोलह वर्ग फुट आकार के कई फुट ऊँचे इस मंच को ' आसर' कहा जाता है । मंच के दो ओर लगभग दो फुट ऊँचे दो पट्टे लगाए जाते हैं जिन में से एक पर ढोलक, खरताल, घंटियाँ आदि ताल वाद्य बजाने वाले बैठते हैं तथा दूसरे पर बाँसुरी शहनाई आदि बजाने वाले आसन लगाते हैं । मंच के चारों ओर लगे खंभों को ही प्रकाश व्यवस्था का आधार बनाया जाता है । मंच के चारों ओर दर्शक बैठते हैं किन्तु एक पार्श्व स्त्रियों के लिए सुरक्षित रहता है । सामान्यत: मंच पर बैठने के लिए एक आसन ही रहता है जिससे अनेक काम लिए जाते हैं । अभिनय के लिए यदि अन्य वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है तो अभिनेता स्वयं उन्हें लाते हैं और अपने साथ ही वापस ले जाते हैं । जात्रा का अभिनय वाद्य यंत्रों के साथ सामूहिक गीत पर चलता है । सारे अभिनेता श्वेत वस्त्र (चौंगा) धारण करते हैं तथा गौरांग प्रभु चैतन्य की वंदना (गौर चन्द्रिका) से जात्रा का आरम्भ होता है । जात्रा के अभिनेता ' अधिकारी' के निर्देशानुसार कार्य करते हैं । यह ' अधिकारी' ही जात्रा का निर्देशन तथा प्रमुख पात्र होता है । स्त्री पात्रों का अभिनय आरम्भ में पुरुष ही करते थे । कालांतर में बंगला के धनिक वर्ग द्वारा 'सखेर जात्रा' के नाम से जिस नाट्य प्रकार का आरम्भ किया गया उसी में सर्वप्रथम स्त्रियों को प्रवेश दिया गया । जात्रा की कलात्मकता का विकास तो इस परिवर्तन से नहीं हुआ किन्तु उसकी सहजता, सादगी आदि को समाप्त करने में इसने पूर्ण योगदान दिया । 'सखेर जात्रा' धार्मिक परिवेश को भूलकर विशुद्ध श्रृंगारिक कथानकों पर आश्रित

हो गई इससे नगरों में जात्रा का पतन होने लगा । अपने विशुद्ध रूप में जात्रा आज भी गाँवों में जीवित है और जनता के मनोरंजन का साधन बनी हुई है ।

33.10 गंभीरा

वैष्णव जात्रा की ही भाँति शाक्त मतावलंबी शिव की लीलाओं के लिए बंगाल में जिस नाट्य विधा का आश्रय लेते हैं उसे 'गंभीरा' के नाम से जाना जाता है । अन्य सभी लोक रंजन के प्रकारों की भाँति यह लीलाएँ प्राय: रात्रि में ही होती है । केवल दो बाँसों के सहारे कपड़े का साधारण सा परदा तानकर शिव भक्त मुखौटे लगाकर अभिनय करते हैं । गंभीरा के निर्देशक व अभिनेताओं को अपनी सुविधानुसार परदे के पीछे आने -जाने व दर्शक वृन्द में बैठे हुए किसी भी व्यक्ति से वार्तालाप करने की छूट होती है । शिव का रूप धारण किए अभिनेता ढाक (नगाड़े जैसा तालवाद्य) की आवाज पेर नृत्य आरम्भ करता है और गायक उसके अनुसरण में गीत गाते हैं । आरम्भ में नृत्य की गति मंद होती है जो क्रमश: बढ़ती जाती है ।

33.11 कीर्तनिया

जात्रा की ही भाँति संगीत नृत्य व धर्म प्रधान तथा रात्रि में अभिनीत नाट्य के रूप में ' कीर्तनिया' भी बंगाल-बिहार में प्रचलित है । इस परम्परा में कृष्ण व शिव दोनों के चरित्र ही नाट्य का विषय हैं । ' माच ' की भाँति ' कीर्तनिया' में भी आरम्भ में पात्र का परिचय कराया जाता है । मुख्यत: कीर्तनिया का उद्भव मिथिला में हुआ जिसमें आरम्भ में नारदीय पद्धति के संगीत का प्रयोग होता था । यह ध्यान देने योग्य है कि भारतीय संगीत की पाँच पद्धतियों (भरत, मतग, नारद, शाईगदेव तथा शिव) में नारद ने ही सर्वप्रथम रागों का लिङ्ग के आधार पर वर्गीकरण किया तथा राग रागनियों के गायन का समय निर्धारित किया । मालवा में आज भी लोक धर्मी नाट्य परम्परा प्राय: नारदीय संगीत परम्परा का अनुसरण करती है । यद्यपि कीर्तनिया में यह दृष्टिगत नहीं होता । कीर्तनिया के प्रमुख अभिनेता को नायक कहा जाता है । संभव है कि जिस प्रकार जात्रा में अभनय तत्व को प्रधानता दी गई उसी प्रकार कीर्तनिया में प्रभु कीर्तन की ही प्रधानता रही । कीर्तनिया के प्रमुख लेखकों में उमापति, कान्हाराम, नन्दीपति, विश्वनाथ आदि का परिगणन होता है ।

33.12 अंकिया

आसाम में 16वीं - 1 7वीं शताब्दी में यह कीर्तनिया ' अंकिया' नाटक के रूप में उद्भूत हुआ । इसमें पद्य की तुलना में गद्य को प्रमुखता दी गई और जन-मानस के मनोरंजन के स्थान पर वैष्णव धर्म के प्रचार पर बल दिया गया । मात्र एक अंक का नाटक होने के कारण इसे अंकिया नाम दिया गया । गोपालदेव तथा शंकरदेव अंकिया के लोकप्रिय नाट्यकार रहे हैं । अंकिया नाटक मे स्त्री पात्रों का अभिनय यद्यपि पुरुष ही करते हैं तथापि उनकी वेशभूषा पर बहुत ध्यान दिया जाता है । इसके साथ ही नाटक में कई पात्र मुखौटों का प्रयोग भी करते हैं ।

33.13 बिदेसिया

बिहार के भोजपुर क्षेत्र में बिदेसिया लोकप्रिय नाट्य शैली है । इसके अन्तर्गत वर्तमान सामाजिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में प्रसिद्ध प्रेमकथाओं का अभिनय किया जाता है । यथार्थ के नाम पर रूढ़

सामाजिक व्यवस्था पर तीखे व्यंग्य के माध्यम से चोट करना बिदेसिया की मूल विशेषता है । बिदेसिया गीति नाट्य है तथा वर्तमान काल में भी बिहार में इस शैली में नाट्य खेलने और लिखने की प्रथा है।

33.14 जट्ट- जट्टनी

भोजपुर, मिथिला तथा बिहार के उत्तरी भाग में ग्रामीण महिलाएँ वर्षा -ऋतु आरम्भ में होने पर अपने मनोरंजन के लिए इस नाटक का आयोजन करती हैं । मूल रूप से यह गीतों भरा प्रहसन है जो बिना गद्य का आश्रय लिए ही पाँच अंकों तक चलता रह सकता है ' इस नाटक में स्त्रियाँ दो दलों में बट जाती हैं । एक दल की प्रमुख सिर पर पगड़ी और बदन पर बडी पहनकर जाट बनती है और दूसरी जाटनी का रूप धारण कर लेती है । बाकी के पात्र आवश्यकता के अनुसार उपलब्ध परिधान धारण कर अभिनय के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं । जहाँ भी स्त्रियाँ एकत्र होती है वही स्थान मंच बन जाता है । प्रदर्शन में अन्य किसी तामझाम जैसे वाद्ययंत्रों आदि की आवश्यकता नहीं होती मात्र गीतों के द्वारा उत्तर-प्रत्युत्तर के माध्यम से अभिनय किया जाता है ।

33.15 गोंधल

यह महाराष्ट्र का कर्मकाण्डगत तथा धार्मिक नाट्य है । महाराष्ट्र में सदियों तक प्रचलित शिव भक्ति की उपासना इस ' गोंधल ' या 'गोंधक' का मूल है । भवाई की अंबा पूजा से इसकी समानता सहज रूपेण देखी जा सकती है । गोंधल मंडली में चार सदस्य होते हैं । मुख्य गायक को नायक कहते हैं तथा एक अन्य अभिनेता उसका सहायक होता है । मंडली के शेष दो सदस्य 'तुन्तुने ' तथा ' संबल' के वादक होते हैं । मूलत: गोंधल में संगीत ही प्रधान होता है किन्तु दो गायकों के लोकधर्मी परम्पराएं कथोपकथन से इसमें नाटकीयता की सृष्टि की जाती है । प्रस्तुतीकरण के लिए मंडप का निर्माण कर उसके नीचे चोली का वस्त्र बिछाकर (इस वस्त्र को ' खण' कहते हैं) आम्रपत्र तथा कलश के साथ अंबा की स्थापना की जाती है । इस अनुष्ठान के उपरान्त देवी-देवताओं की स्तुति ' पवाड़े ' नामक छन्द में की जाती है । यह ध्यान देने योग्य है कि ' पवाड़े ' जहाँ धार्मिक परिवेश से सम्बन्धित होकर गोंधल में अपनाए गये वहीं ' लावणी ' छंद रूमानी और धर्म निरपेक्ष होने के कारण ' तमाशे ' का विषय बना । देवी-देवताओं की स्तुति के बाद किसी कथा प्रसंग के माध्यम से गोंधल का आरम्भ होता है । गोंधल के स्वाँग मनोरंजक होने के साथ हास्य की सृष्टि करने में सक्षम भी होते हैं ।

33.16 ललित

महाराष्ट्र के धार्मिक नाट्य मंच पर ' ललित ' का महत्व है । ललित का आयोजन नवरात्रि के अवसर पर किया जाता है । ललित में मुख्यत: कीर्तन प्रधान है परन्तु गद्य भी कम नहीं है । इसके प्रदर्शन के दौरान ईश्वर भक्तों आदि के स्वाँग कर ईश्वर से प्रसाद प्राप्त करने का अभिनय किया जाता है और उसी प्रसाद को दर्शकों में वितरित कर दिया जाता है । बालकृष्ण लक्ष्मण पाठक की ' ललित संग्रह ' नामक एक पुस्तक प्राप्त है जिसका पर्यालोचन इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि कालांतर में पद्य रूपी कीर्तन का प्रभाव ललित में कम होने लगा तथा गद्य का प्रवेश बढ़ने लगा । इस परिवर्तन के कारण स्वाँग का महत्व भी विशेषत: बढ़ा जिसके फलस्वरूप ललित कीर्तन से दूर होकर मात्र ललित अभिनय के रूप में लोकानुरंजन का विषय बन गया । इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता

कि गोंधल और ललित के मूल में धावलण की विधा रही हो । मराठी के वैष्णव संत कवियों ने कृष्ण तथा गोपियों की लीलाओं के वर्णन के लिए इस विधा का अत्यंत व्यापक रूप से प्रयोग किया था ।

33.17 दशावतार

महाराष्ट्र तथा कर्नाटक में प्रचलित 'दशावतार' की लोकधर्मी नाट्य विधा गोआ और कोंकण में आज भी जीवित है । दशावतार की वेषभूषा तथा कथकली में बहुत समानता है । नाटक का आरम्भ सूत्रधार गणपति व सरस्वती की वन्दना से करता है । जैसे ही वदना समाप्त होती है मंच पर नृत्य करते हुए शंखासुर का प्रवेश होता है । शंखासुर ने ब्रह्मा से तीन वेद चुराए हैं । उन्हें पुन: पाने के लिए सूत्रधार देवों का आह्वान करता है । आह्वान के फलस्वरूप विष्णु भगवान नृत्य करते हुए आते हैं व शंखासुर को युद्ध में परास्त कर ब्रह्मा को वेद लौटाते हैं । इसके बाद विष्णु के मत्स्य रूपी अवतार से वास्तविक कथा आरम्भ होती है । प्रवेश करने वाला हर पात्र झाँझ और मृदंग की ध्वनि पर नाचता हुआ आता है और सूत्रधार उसका परिचय देता है । हास्य की सर्जना के लिए दशावतार में एक विदूषक भी होता है जिसे ' महादवी' कहा जाता है । नाटक का प्रत्येक पात्र नृत्य के बाद स्वगत शैली में कथन कर अपने स्थान पर लौट जाता है । अतिशयोक्ति पूर्ण कथन और अति नाटकीयता दशावतार की विशेषताएँ हैं किन्तु सभी अवतारों का मंच पर प्रवेश अनिवार्य नहीं है । दशावतार के प्रदर्शन के लिए मात्र एक साधारण सा रंगीन पर्दा तान दिया जाता है जिसके एक ओर वाद्य यंत्र बजाने वाले बैठ जाते हैं तथा दूसरी ओर से पात्र प्रवेश करते है। पुरुष पात्र ही स्त्री पात्रों का अभिनय करते हैं तथा प्रत्येक पात्र की वेष-भूषा नियत होती है । पात्र खुलकर संवाद बोलते हैं और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए उचित पद-विन्यास तथा गति का आश्रय लेते हैं । उदाहरण के लिए गणपति नकली सूंड लगाए झूमते हुए आते हैं तथा सरस्वती नकली मोर के ढाँचे से स्वयं को बाँधकर इस प्रकार के हाव-भाव करती हैं जैसे वह मयूर की वास्तव मे सवारी कर रही हो । अन्य नाटकों की भाँति दशावतार का प्रदर्शन भी रात मे आरम्भ होकर प्रातःकाल तक चलता रहता है।

33.18 तमाशा

महाराष्ट्र की लोकधर्मी परंपरा का मनभाता नाटक 'तमाशा' है । मूलरूप से तमाशा फारसी भाषा का शब्द है । इसके लेखक को ' शाहीर' कहा जाता है जो शायर शब्द का अपभ्रंश ही हो सकता है । संभव है महाराष्ट्र के परम्परागत नाटकों को यह नाम उन अरब सौदागरों द्वारा दिया गया हो तो मालाबार तट पर निरन्तर आते - जाते रहते थे । आरम्भ में इन नाटकों को 'गम्मत' कहा जाता था । कालांतर में इनके लिए ' खेल-तमाशा ' शब्द प्रयुक्त हुआ जो घटकर 'तमाशा ' के रूप मे प्रचलित हो गया । यह भी संभव है कि ललित, गोंधल, दशावतार आदि के धार्मिक रंगमंच से लौकिक धर्मनिरपेक्ष तमाशा का उदय हुआ हो । आरम्भिक तमाशों में पवाड़ों का गायन भी इस ओर संकेत करता है । तमाशा की उत्पत्ति भले ही बहस का विषय हो किन्तु यह तय है कि यह परंपरा महाराष्ट्र में सदियों पुरानी है ।

तमाशा अधिकांशत: गणपति वंदना से आरम्भ होता है । इसको 'गण' कहा जाता है । जिसके बाद ' गवलन नामक लोक गीत गाए जाते हैं । यह गवलन यदि वैष्णव संतों की ' गवलन विधा' का अपभ्रंश है तो ' तमाशा' इसके प्रयोग के कारण पुन: धार्मिक रंगमंच से अपनी उत्पत्ति अथवा धार्मिक व लौकिक रंगमंच के पारस्परिक समन्वय को रेखांकित करता है । इन गीतों के साथ ही रूमानी लावनियाँ

गाई जाती हैं जिससे तमाशा गतिमान होता है । नाटक में प्रस्तुत कथात्मक संवाद ' वग ' कहे जाते है । इनकी कथावस्तु सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक या समसामयिक होती है । तमाशा करने वाली मंडली के प्रमुख को सरदार कहा जाता है । इस सरदार के प्रमुख साथी ढफली या चग बजाने वाला, नर्तकी, गायक, विदूषक आदि होते हैं । तमाशा के पात्र यद्यपि कथावस्तु से परिचित होते हैं फिर भी लिखित संवाद आदि न होने के कारण उन्हें अपनी चतुराई से कथा का निर्वाह करना पड़ता है ।

साधारण सी ऊँचाई के मामूली से मंच पर किसी विशद व्यवस्था के बिना ही तमाशा कर लिया जाता है । सबसे अधिक बनाव-श्रृंगार व तड़क-भड़क वाली वेष- भूषा नर्तकी की होती है जबकि अन्य पात्र सामान्य वस्त्र ही धारण करते हैं । तमाशा के पात्र और दर्शक के मध्य विशेष दूरी नहीं रहती अत: निकटता से अबाध संप्रेषण की सर्जना होती है । तमाशा के जनक माने जाने वाले राम जोशी के अलावा अनंदफंदी, बालाजी, हीनाजी, प्रभाकर, परशुराम आदि प्रसिद्ध तमाशाकार या शाहीर माने जाते हैं । लोक रूचि की यह अनूठा 'तमाशा ' 1 9वीं शताब्दी में अति श्रृंगारिक होकर अश्लीलता का शिकार हो गया जिसके फलस्वरूप समाज का एक बड़ा भाग इससे विरत होने लगा तथा इसे निम्न श्रेणी का मनोरंजन माना जाने लगा । इस शैली के पुनरुद्धार के लिए 'महाराष्ट्र तमाशा परिषद ' ने महत्वपूर्ण कार्य किया है जिससे तमाशा से अश्लीलता दूर हुई है और यह पुन: अपना खोया हुआ गौरव पाने लगा है ।

19वीं शताब्दी में राजस्थान प्रदेश के जयपुर में, महाराजा प्रतापसिंह के काल में, तमाशा की एक नई विधा विकसित हुई । यह विधा महाराष्ट्र के तमाशा से भिन्न है । यह तमाशा अखाड़ा नामक खुले मंच पर किया जाता है तथा इसमें संगीत, नृत्य व गायन की प्रधानता होती है । जयपुर के राज परिवार के संरक्षण में पंडित बशीधर भट्ट ने इस शैली को आरम्भ किया । इस तमाशा की उस्ताद परम्परा प्रसिद्ध ध्रुपद गायक पंडित फूल जी भट्ट से आरम्भ हुई । यही कारण है कि इस शैली की सभी संगीत रचनाएँ राग-रागनियों में निबह हैं । इस परपरा में वर्तमान उस्ताद गोपीजी (गोपीकृष्ण भट्ट) हैं और यह परिवार हर वर्ष तमाशा का आयोजन करता है । इस परिवार के श्री वासुदेव भट्ट भी इस परपरा को गतिमय बनाए रखने के लिए कृत संकल्प हैं । ' गोपीचन्द' तथा ' हीर-रांझा' आदि इस परंपरा के मुख्य खेल हैं जिनकी लोकप्रियता आज भी असंदिग्ध है ।

33.19 रम्मत

मूलत: राजस्थान प्रदेश के बीकानेर, पोकरण, फलौदी, जैसलमेर आदि क्षेत्रों में राजस्थानी वीरों तथा महापुरुषों के चरित्र पर रचित काव्यमय रचनाएँ ' रम्मत' के नाम से रंगमंच पर प्रस्तुत की जाती हैं । रम्मत की प्रस्तुति के लिए थोड़े ऊँचे धरातल पर बिना किसी विशेष साज-सज्जा के मंच बना लिया जाता है । सारे कलाकार इसी मंच पर अपनी वेश-भूषा

धरण कर दर्शकों के सामने ही बैठ जाते हैं । इसी मंच पर बैठे हुए गायक संवादों को गाते हैं और अभिनेता नृत्य तथा अभिनय करते हुए इन संवादों को स्वयं भी बोलते हैं । मुख्य वाद्य यंत्रों के रूप में नगाड़े तथा ढोलक का प्रयोग प्रदर्शन के दौरान किया जाता है । रम्मत में जो मुख्य गीत गाए जाते हैं उनका विषय चौमासा (वर्षा वर्णन) लावणी (देवी-देवता पूजन) गणपति की वन्दना तथा रामदेव जी की अर्चना होती है । रम्मत सामुदायिक लोकधर्मी नाट्य परम्परा है । रम्मत लेखकों में मनीराम व्यास फागू महाराज तेज कवि (जैसलमेरी), तुलसीराम, सुआ महाराज आदि प्रमुख हैं । विख्यात खिलाड़ियों में रामगोपाल मेहता गंगादास, जीतमल, गींडोजी आदि के नाम लिए जाते हैं । लोकप्रिय

रचनाओं के रूप में पूरन भक्त मोरध्वज, राजा हरिश्चन्द्र तथा गोपीचन्द भरथरी की रम्मतों ने जनमानस में विशेष स्थान प्राप्त किया है।

33.20 गवरी

राजस्थानी भीलों का इतिहास शौर्य गाथाओं से परिपूर्ण है । अपनी रंग- बिरंगी संस्कृति वाले अरावली क्षेत्र के निवासी ये भील वर्षा की समाप्ति पर हर साल उदयपुर के आस- पास ' गवरी' समारोह आयोजित करते हैं । 'गवरी ' भी रम्मत की भाँति सामुदायिक लोकधर्मी नाट्य है जिसकी संरचना पौराणिक गाथाओं के सम्मिश्रित में निहित है । शाब्दिक दृष्टि रमे ' गवरी ' गौरी से प्रसूत हुआ है यही कारण है कि समारोह से पूर्व गवरी माता का आह्वान किया जाता है तथा उनसे आतिथ्य ग्रहण की प्रार्थना की जाती है । समारोह के सम्पादन हेतु मंदिर के सामने एक बाँस गाड़ा जाता है जो नाट्य का आधार स्थल होता है तथा इस संसार व देवलोक के मध्य सेतु का कार्य करता है । इसी केन्द्र के पास चालीस दिन के इस समारोह में प्रतिदिन परम्परागत लोक नाट्य श्रृंखलाबद्ध रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं । गवरी के कथानक यद्यपि क्रमबद्ध नहीं होते किन्तु मूल गाथा से सम्बन्धित अवश्य होते हैं । इन कथानकों में युद्ध, पराजय, मृत्यु तथा पुनर्जन्म आदि मुख्य विषय हैं । गवरी के मुख्य अभिनय प्रसंगों में देवी अम्बड़, बादशाह की सवारी, बनजारा खाडलिया भूत तथा शेर- सूअर की लड़ाई जैसे प्रतीकात्मक प्रसंग चित्रण परिगणित किए जा सकते हैं । मानव नियति से इन घटनाओं का तादात्म्य दर्शाना ही गवरी का लक्ष्य है । जन्म से मृत्यु तक ही नहीं अपितु पुनर्जन्म तक के लिए मानव दैवी कृपा पर आश्रित है यह गवरी का शाश्वत सत्य है जिसे नृत्य गीत अभिनय आदि के माध्यम से संप्रेषित किया जाता है ।

33.21 फड़

राजस्थान में भोपों द्वारा 'फड़' की नाटकीय प्रस्तुति की जाती है । भोपे पेशे से पुजारी होते हैं किन्तु साथ ही नृत्य, गायन, अभिनय, नटों के करतब आदि में भी प्रवीण होते हैं । पाबूजी रामदेवजी, गोगाजी, भैरूँजी तथा माताजी (करणीमाता तथा जीणमाता) के भोपे प्रदेश में प्रमुख हैं । फड़ मूलत कपड़े पर अनुपम रंगों से चित्रित जीवन चरित है । इसे बाँस में लपेट कर रखा जाता है और प्रदर्शन के समय दर्शकों के सामने तान दिया जाता है । भोपा की सहयोगिनी या पत्नी लालटेन लेकर पाड़ के सामने नाचती-गाती आती है तथा जिस अंश का गायन करती है उसे संकेतक छड़ी की सहायता से बताती जाती है । इस बीच भोपा फड़ में प्रचलित वाद्य यंत्रों रावण हत्था, जन्तर, डेरू या एकतारा बजाता हुआ स्वयं भी अनेक प्रकार के करतब दिखाता रहता है । फड़ की प्रस्तुति के सारे क्रियाकलाप, लय-ताल में ही सम्पन्न होते हैं । चित्रित फड़ की लम्बाई 30 फीट और चौड़ाई 5 फीट के करीब होती है । राजस्थान की सर्वाधिक लोकप्रिय फड़ों में ' पाबूजी ' और ' देवजी' की फड़ प्रमुख है । दर्शकगण फड़ के दृश्यों एवं साथ चलने वाले अभिनय से. सदियों से प्रभावित रहते आएँ हैं और फड़ का देखना शुभ मानते हैं ।

33.22 कड़ा

राजस्थान के कुछ भागों में यदा-कदा कड़ा नामक नाट्य विधा के दर्शन भी हो जाते हैं । एकमात्र नागाड़े की टेक पर वीरकथाओं का गायन व अभिनय इस शैली की कथावस्तु होती है । एवं संस्कृति

की एक रूपरेखा" कड़ा में लोक-प्रसिद्ध वीर रस से परिपूर्ण कथा का प्रस्तुतिकरण एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाता है किन्तु उपस्थित दर्शक या जनसमूह कथा की प्रमुख पंक्तियों को दुहराता रहता है । अपने मूल रूप में संभवत: यह नाट्य चारण-भाटों द्वारा गाई जाने वाली स्तुति परम्परा का अवशेष है ।

33.23 छऊ

उड़ीसा, बिहार तथा बंगाल में नृत्य- नाटक के रूप में छऊ का प्रचलन है । छऊ की मूलत: तीन शैलियाँ प्राप्त होती है । सेराएकेला छऊ बिहार, मयूरभंज छऊ दक्षिण पूर्व उड़ीसा तथा पुरालिया छऊ बंगाल में प्रचलित है । यह कहना गलत न होगा कि अपने मूल रूप में छऊ का संबन्ध पूर्वी भारत से हैं । क्योंकि आरम्भ में मयूर भंज और सेराएकेला उड़ीसा के तथा पुरुलिया बिहार का भाग था । स्वरूप की दृष्टि से सेराएकेला छऊ यद्यपि विषयों का ग्रहण महाकाव्यों तथा पुराणों से करता है किन्तु इसमें नाटकीय कथानक का चयन करने तथा विषय निर्वाह के लिए मुखौटों का योग होने पर भी नृत्य की ही प्रधानता रहती है । मयूर मंज छऊ में मुखौटे प्रयुक्त नहीं होते । नृत्य का आरंभ संस्कृत नाटकों के पूर्वरंग की भाँति परदे के पीछे होता है । नाट्यारंभ के पूर्व ' काजि-पाजि' नामक दो पात्र मंच पर आकर स्वाँग तथा अंग संचालन के साथ बातचीत करते हैं जिसे 'विदूषक प्रणालिका' कहा जाता है । कथा का आधार यद्यपि सेराएकेला छऊ जैसा ही है तथापि मयूरभंज छऊ में भी नृत्य आरंभ हो जाने के बाद अधिक नाटकीय व्यापार के लिए स्थान नहीं है । इस छऊ का मुख्य आकर्षण नृत्य-नाट्य के साथ चलने वाली वे मानव क्रियाएँ है जो समाज के दैनंदिन जीवन से जुड़ी हुई हैं । उदाहरण के लिए 'चिंचरा' (जमीन खुरचना), खर्का (फर्श पर झाड़ू लगाना), धान कुटन (धान कूटना), माथाझड़ा (नहाने के बाद लम्बे केश सुखाना) आदि चेष्टाएँ प्रमुख हैं । इसके साथ ही ' हरिण दिआँ' (हरिण का छलांक लगाना) ' शैल दिआँ' (मछली का जल से उछलना) आदि पशुओं की गति से संबद्ध क्रियाएं भी मयूरभंज छऊ में देखा जा सकती है । सेराएकेला छऊ की तुलना में मयूर भंज छऊ में स्पष्टत: नाटकीयता अधिक है किन्तु फिर भी नृत्य की प्रमुखता इसे नाटक से अलग करती है । पुरुलिया छऊ उपर्युक्त दोनों प्रकारों का सानश्रण है । इसमें एक ओर जहाँ समूर भंज छऊ की शैली दिखाई देती है वही दूसरी ओर सेराएकेला छऊ की भाँति मुखौटों का प्रयोग भी इसमें किया जाता है । दोनों अन्य छऊ शैलियों की भाँति पुरुलिया की प्रस्तुति भी खुले आकाश के नीचे ही होती है । बीस फुट लम्बा-चौड़ा खुला क्षेत्र घेर कर प्रवेश व निष्क्रमण के लिए पाँच फुट चौड़ा रास्ता बना लिया जाता है । यह स्थान ही मंच का काम करता है । दर्शक इस अभिनय क्षेत्र के तीनों ओर बैठते हैं तथा रात्रि में लालटेन या गैसबत्ती के प्रकाश में छऊ प्रारंभ होता है । महिलाओं के लिए पार्श्व में ऊँचाई पर बैठने की व्यवस्था होती है । ढोल की ध्वनि पर गणेश का प्रवेश सबसे पहले होता है । गायक गणेश वंदना करता है तथा अन्य पात्रों का प्रवेश आरंभ हो जाता है गायक प्रत्येक पात्र का परिचय देता है । अंत में नायक व राक्षस के मध्य युद्ध होता है तथा राक्षस वध अर्थात असत्य पर सत्य की विजय के साथ नृत्य-नाट्य समाप्त हो जाता है । पुरालिया छऊ के कथानक महाकाव्यों (रामायण-महाभारत) से लिए जाते हैं किन्तु इनके चयन में वाल्मीकि रामायण मात्र आधार का काम करती है । अधिकांशत: कृत्तिवास रामायण का प्राधान्य रहता है । छऊ पात्रों के ऊपरी वस्त्र अलंकृत होते हैं किन्तु नीचे मात्र एक चुस्त पायजामा ही पहना जाता है । इस पायजामे पर रंगीन पट्टियाँ बंधी होती है । अपनी प्रस्तुति शैली, देश-भूषा, नृत्य व गायन आदि की

विशेषताओं के कारण सेराएकेला तथा मयूर मंच की तुलना में पुरुलिया छऊ में नाटकीय तत्व अधिक हैं इसी कारण यह सामान्य जन के अधिक निकट भी प्रतीत होता है ।

33.24 यक्षज्ञान

तमिलनाडु आंध्रप्रदेश तथा कर्नाटक में यक्षज्ञान का प्रचलन है । अन्य लोकधर्मी नाटकों की भाँति यक्षज्ञान भी नृत्य-नाट्य है अत: इसमें गीतबद्ध संवादों का प्रयोग होता है । यक्षज्ञान की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है । 11 वीं 12वीं शताब्दी के जैन ग्रन्थों में इसे 'देशी गीत' के नाम से वर्णित किया गया है । 1 4वीं से 1 6वीं शताब्दी के मध्य रचित अनेक यक्षज्ञान उपलब्ध होते हैं । यक्षज्ञान के लिए ' प्राकृत नाटक' नाम का प्रयोग भी हुआ जिससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि इसमें संस्कृत नाटक की रूढ़ परम्पराओं का निर्वाह नहीं होता था और यह मूल रूप से सामान्य जन के मनोरंजन का साधन था ।

अपनी कथावस्तु के लिए यक्षज्ञान रामायण, महाभारत, पुराण तथा लोकप्रिय कथाओं का आश्रय लेता है । समय-समय पर सामाजिक मान्यताएँ भी इस नाट्य परम्परा में स्थान पाती रही हैं । यक्षज्ञान की प्रस्तुति खुले मंच पर की जाती है । यह मंच आयत या वर्ग के रूप में बनाया जाता है । आयताकार होने की स्थिति में इसकी लम्बाई 16 फुट तथा चौड़ाई 20 फुट होती है । वर्गाकार मंच का प्रत्येक पार्श्व 16 फुट या 20 फुट का होता है । मंच के चारों कोनों पर बाँस के खंभे होते हैं जिन पर केले के वृक्ष के तने या पत्तियाँ बाँट दी जाती है । प्रकाश के लिए दियों का प्रयोग परंपरानुसार किया जाता है । मंच के पीछे की ओर नाटक का निर्देशक, पाठकर्ता तथा संचालक बैठता है जिसे भगवतार कहते हैं । सफेद वस्त्र पहने इस भगवतार के साथ ढोल, मुखवीणा आदि बजाने वाले साजिंदे होते हैं । भगवतार गीत गाकर नाटक का आरम्भ करने के साथ-साथ कथा वर्णन व उसकी व्याख्या भी करता है । दर्शक रंगमंच के तीन ओर बैठते हैं । मंच के पीछे अप्रकाशित खुला भाग होता है और एक फूस की झोपड़ी होती है जो नेपथ्य का काम करती है । इस झोपड़ी मे गणेश की मूर्ति के सामने भूमि पर अभिनेता बैठते हैं तथा मंच पर प्रवेश के पूर्व वे गणेश का पूजन भी करते हैं । यक्षगान की प्रस्तुति फसल की कटाई हो जाने के उपरान्त प्राय: नवम्बर से मई माह के मध्य होती है ।

यक्षज्ञान में चेहरे पर रूपसज्जा के लिए लाल,काली व सफेद रेखाएँ बनाई जाती हैं । नायक की वीरता और शौर्य दर्शाने के लिए गुलाबी व पीले रंग का प्रयोग किया जाता है । कुछ पात्रों मे दाढ़ी और मूँछ का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ऊन की रंगी हुई दाढी-मूंछों का प्रयोग भी किया जाता है । पात्र ढीला सा या चुस्त काला पायजामा सामान्यत : पहनते हैं । इसके ऊपर लाल -पीली चारखाने की साड़ी इस प्रकार पहनी जाती है कि नृत्यादि में कठिनाई न हो । शरीर के ऊपरी भाग पर लम्बी बाहों वाला लाल, काला या हरा जैकेट सा धारण किया जाता है । सिर पर जटिल सी रंग-बिरंगी पगड़ी बाँधी जाती है । शोभा बढ़ाने के लिए मनके, मालाएँ और चमकते सितारों का प्रयोग भी पात्र करते हैं । गीतों की संरचना में कर्नाटक संगीत का प्रयोग किया जाता है । गीतों के बोल साहित्यिक होते हैं किन्तु जन सामान्य के मनोरंजन हेतु दुरूह नहीं होते । इन गीतों की प्रस्तुति, नृत्य, संवाद अभिनय कौशल आदि के माध्यम से अभिनेता यक्षज्ञान का सशक्त रूप जनता के सामने प्रस्तुत करते हैं ।

33.25 भागवत मेला

आन्ध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु में लोकधर्मी नाट्य परंपरा अत्यन्त समृद्ध है । मूलत: ये नाट्य रूप में किसी न किसी रूप में यक्षज्ञान से संबद्ध रहे हैं । तमिलनाडु के तंजौर जिले से भगवतमेला का संबंध है किन्तु मूल रूप से इसका विकास आन्ध्र प्रदेश के उस प्रवासी समुदाय द्वारा किया गया है जो 1 8वीं शताब्दी में तंजौर आए । इन प्रवासी ब्राह्मण परिवारों को तत्कालीन नायक अच्युथामा ने मेलचुर नामक ग्राम बसने के लिए दान में दिया । तमिल एवं तेलगू के इस संयोग से यक्षज्ञान की जिस नवीन शैली का आरम्भ हुआ वही कालान्तर में भागवत मेला के रूप में जानी गई । मेलचुर के वरदाराजास्वामी के मंदिर मे नरसिंह जयन्ती के अवसर पर (मई-जून) रात्रि में भागवत मेला की प्रस्तुति की जाती है ।

नाट्य प्रस्तुति हेतु फूस की छत वाला एक विशाल पंडाल मंदिर के सामने बनाया जाता है । इस पंडाल में करीब बीस फुट लम्बा मंच निर्मित होता है । यक्षज्ञान की भाँति नेपत्य का काम देने के लिए एक झोंपड़ी बना जाती है किन्तु नाटक का आरम्भ एकाकी विदूषक के प्रवेश से होता है । यह विदूषक गद्य में दर्शकों से वार्तालाप करता है व कुछ देर नृत्य करके चला जाता है । इसके बाद मंच पर संगीतकारों की टोली प्रवेश करती है और देवता का आह्वान करती है -इस क्रिया को थोदयमंगलम् कहते हैं । मृदंग व बाँसुरी वाद्य यंत्रों में प्रधान हैं । आह्वान के उपरान्त गणेश का मुखौटा धारण किए एक बालक मंच पर आता है तथा गणेश वंदना के साथ नृत्य करता है । गणेश वंदना में देवता से आर्शिवादी माँगा जाता है । यह भागवतमेला का पूर्वरंग है जो यक्षज्ञान परंपरा के अनुसार एवं संस्कृति की एक रूपरेखा' ' नेपथ्य में सम्पन्न न होकर दर्शकों के सामने प्रस्तुत किया जाता है ।

पूर्वरंग की समाप्ति पर नाटक के मुख्य पात्र प्रस्तुति के लिए प्रवेश करते हैं ।मंच पर कथागायक का कार्य संगीतकार या भागवतार द्वारा नहीं अपितु अभिनेताओं द्वारा किया जाता है । नाटक में नृत्य व गान शास्त्रीय रूप का अनुसरण करते हैं । नृत्य पर भरतनाट्यम का प्रभाव स्पष्टत: दिखाई देता है तथा गायन कर्नाटक संगीत के रागों में आबद्ध होता है । भगवत मेला के कलाकार नृत्य-गीत व संवाद अदायगी सभी में निपुण होते हैं । नाटक के पात्र सलमे सितारे लगे भव्य वस्त्र धारण करते हैं । स्त्री पात्रों की भूमिका निभाने वाले पुरुष भरतनाट्यम की रीति से ही देश बनाते हैं । राक्षस पात्र मूँछे लगाते हैं । नाटक के विषय पौराणिक ही होते हैं किन्तु नृसिंह, हिरण्यकशिपु आदि कुछ पात्रों को छोड़कर रूप-सज्जा न्यूनतम होती है । आख्यान तत्व प्रधान यह नाट्य रूप दक्षिण भारत की सशक्त नाट्य विधा है ।

33.26 कुचिपुड़ी

रात्रि के समय खुले आकाश के नीचे निर्मित तथा नारियल के तेल से जगमगाते दीपकों की रोशनी में आन्ध्र प्रदेश का कुचिपुड़ी नाट्य आयोजित होता है । तीर्थनारायण यति और उनके शिष्य सिद्धेन्द्र को यह नाट्य शैली आरम्भ करने का श्रेय दिया जाता है । लोक श्रुति के अनुसार सिद्धेन्द्र योगी ने कुछ ब्राह्मण युवकों, की मंडली बनाकर सन् 1675 में गोलकुण्डा के नवाब के समक्ष इसे प्रस्तुत किया था । नवाब ने इस प्रदर्शन से अभिभूत होकर कुचिपुड़ी ग्राम इन ब्राह्माण घरानों को बख्श दिया । आज भी यह परंपरा इस घराने के उत्तराधिकारियों के हाथों से सुरक्षित है तथा ग्राम के नाम पर

कुचिपुड़ी अभिधान से विभूषित है । भागवत मेला तथा कुचिपुड़ी का साहित्यिक दाय एक होने पर भी दोनों विधाएँ परस्पर भिन्न हैं ।

कुचिपुड़ी में पूर्वरंग विधान यक्षज्ञान के समान मंच के पीछे होता है । नाट्य का आरम्भ यद्यपि गणेश वन्दना से ही होता है किन्तु कुचिपुडी में विदूषक नहीं होता । भायवतार यहां सूत्रधार के रूप में नाटक का परिचय ही नहीं देता अपितु वही नाटक का गायक, संयोजक, निर्देशक व संचालक होता है । सत्यभामा, कृष्ण तथा रुक्मिणी की कथा इस विधा की प्रिय नाट्य वस्तु है । नर्तक अभिनेता सूत्रधर के साथ गद्यात्मक संवाद ही करता है । पात्रों की देश-लल्ला भागवत मेला सरखी होने पर भी अधिक समृद्ध होती है । कुचिपुड़ी की राग योजना भागवत मेला जैसी ही है किन्तु नृत्य शैली आन्ध्र की परंपरा का अनुसरण करती है जिसके बोलों में कर्नाटक की ताल योजना का सहारा लिया जाता है । नाटक में पात्र, संवाद, नृत्य, गीत अभिनय सभी का प्रयोग करते हैं । गंभीर अभिनय, मधुर गायन, भावानुकूल अभिव्यक्ति तथा कोमल मुद्राएँ कुचिपुड़ी नाट्य की आत्मा है । कुचिपुडी की नृत्यात्मक एकल प्रस्तुति की तुलना में सामूहिक नाट्य का प्रदर्शन कहीं अधिक प्रभाव उत्पन्न करता है ।

33.27 तीरू कुथू तथा विथि नाटकम

चेन्नई प्रांत में तरू कुथू तथा आन्ध्र प्रदेश में विथि नाटकम् या विथि भागवतम् का प्रचार है । दोनों का शाब्दिक अर्थ है मार्ग मे या गली में खेला जाने वाला नाटक । चेन्नई में फसल की कटाई के बाद कृषक वर्ग नारियल तथा केले के पत्तों से सज्जित किसी चबूतरे पर बनाए गये मरा पर तीरू कुथू का आयोजन करते हैं । अभिनय के लिए पौराणिक कथाओं को आधार बनाया जाता है । नाटक के सभी पात्र पुरुष होते हैं । रूप सज्जा के लिए मुख पर चन्दन, चावल के आटे का घोल और फूल-पत्तों से निकले गए रंगों का प्रयोग किया जाता है । वेषभूषा के लिए रेशम या मलमल से बने शीशे के टुकड़ों से सन्नित वस्त्रों को धारण कर पात्र प्रस्तुति के लिए तैयार होते हैं । मंच के एक ओर मृदंग, हारमोनियम आदि बजाने वाले बैठते हैं । दो व्यक्ति एक कढ़ा हुआ रेशमी पर्दा ताने मंच पर प्रवेश कर नाटक के आरम्भ होने की सूचना देते हैं तथा परदे समेत बाहर निकल जाते हैं । इसी के साथ संगीत की धुन पर नाचते, गाते, संवाद बोलते कलाकार नाटक आरंभ कर देते हैं । विथि नाटकुम् में यक्षज्ञान की अनेक विशेषताएँ परिरक्षित होती हैं । आन्ध्र प्रदेश की ग्रामीण जनता में इस शैली का प्रचार है। इस नाटक में मार्ग में ही किसी चबूतरे आदि पर कल्पित रंगमंच के

ऊपर कृष्णलीला आदि पौराणिक प्रसंगों का अभिनय किया जाता है । प्राय: एक-दो से लेकर पाँच छह पात्र मंच पर यह नाटक करते हैं । पुरुष ही स्त्रियों का अभिनय करते हैं तथा उनके परिवार की स्त्रियाँ साजिन्दो के पास बैठकर नाटक में ढोल-नगाड़े बजाने आकाशवाणी करने तथा बादल गरजने और युद्ध आदि के दृश्य में चीखें मारने का काम करती हैं । कभी-कभी यह समूह में नृत्य भी करती हैं । नाटक के मध्य में ही कथा वाचक अपनी व्याख्या के माध्यम से पौराणिक घटनाओं को समकालीन घटनाओं से जोड़ते हुए उन्हें समसामयिक रंग दे देता है । नाटक में हास्य- सर्जना के लिए भागवत मेला की भाँति एक विदूषक भी होता है जिसे कैथीगुड्डू कहा जाता है प्रस्तुति की दृष्टि से यक्षज्ञान के समान होने के कारण विथि नाटकम् को यक्षज्ञान का अवान्तर भेद ही कहा जा सकता है ।

33. 28 कामनकोट्ड्

कामदेव और रति की पौराणिक कथा पर आधारित दक्षिण भारत की लोक धर्मी परम्परा का नाट्य है कामनकोट्ड् । पौष माह में पोंगल के अवसर पर कामनकोट्ड् का आयोजन किया जाता है । इस नाटक में मृदंग आदि वाद्यों को धुन पर कामदेव तथा रति का रूप धारण कर दो पात्र कथा गायन के साथ नृत्याभिनय प्रस्तुत करते हैं । इस नृत्य नाटक का प्रसार श्रीलंका में बसे हुए दक्षिण भारतीय परिवारों में भी है ।

33.29 पागलवेशम्

चेन्नई प्रांत तथा आन्ध्रप्रदेश के कुछ भागों मे पागलवेशम् का अभिनय भी देखा जा सकता है । यह नाट्य बहुरूपिया पद्धति के निकट है । नगर, कस्बे या गाँव के किसी भी बाजार या गली में दिन के समय अकेला अभिनेता इसकी प्रस्तुति करता है । किसी अनजाने स्थान पर भिखारी, ज्योतिषी आदि का रूप धारण कर अभिनेता जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है । यदि उसकी पत्नी साथ हो तो पति पत्नी की लड़ाई का नाटक भी किया जाता है । नाटक के चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर ही यह अभिनेता अपने वास्तविक स्वरूप से जनता को परिचय कराता है । (संलग्न चित्र)

33.30 बाराकथा

विथिनाटकम् की भाँति बाराकथा भी संगीत प्रधान नाट्य रूप है । इस शैली में मुख्यत: तीन कलाकार नाटक में भाग लेते हैं । इसका नायक हाथ में सितार या सारंगी नुमा छोटा सा वाद्य यंत्र लेकर मंच के मध्य में खड़ा हो जाता है । गीत गाकर वह कोई कथा आरंभ करता है और इसी के साथ नाटक शुरू हो जाता है । नायक की अंगुलियों पर पीतल के छल्ले चढे होते हैं जिन्हें चुटकियों से बजाकर वह अदभूत संगीत-सर्जना करता है । गाते समय छलांग लगाकर आगे-पीछे की ओर जाना, एडी पर घूमना आदि नाटक की सामान्य गतियाँ है । उसके साथी नायक के दोनों ओर खड़े होकर ढोल बजाते तथा नाचते हैं । इनमें से एक नायक के साथ उतारने तथा असंगत वार्तालाप करने जैसे कार्यो के माध्यम से हास्य उत्पन्न करता है । प्रस्तुति की दृष्टि से बाराकथा श्रेष्ठ अभिनय तथा भाव संप्रेषण की सशक्त नाट्य विधा है ।

33.31 पुतलियों का खेल

यह कह पाना संभव नहीं है कि पुतलियों का खेल कितना प्राचीन है किन्तु यह तय है कि संसार के प्राचीनतम लोक मनोरंजन के साधनों में इसका स्थान है । ऐसी मान्यता है कि ईश्वर के हाथ में हम सब पुतलियाँ हैं और प्रारब्ध, भावना, संवेदना आदि की डोरियों से नियन्त्रित कर वह जीवन रूपी रंगमंच पर हमें नचाता है । संभवत: इस नियन्ता ईश्वर के अनुकरण में मनुष्य ने भी पुतलियों का निर्माण किया । इन पुतलियों में वह जान तो नहीं डाल सका । (यद्यपि प्राचीन यूनानी शिल्पी पिगमेलियन ने पत्थर से तराशी ग्लेशिया की मूर्ति को प्राणवान बनाने का यत्न किया था) किन्तु उन्हें अपने संकेतों पर नचाने में वह सिद्धहस्त जरूर हो गया । पुतलियों की प्राचीनता का प्रमुख प्रमाण संस्कृत नाटकों में प्राप्त 'सूत्रधार' नामक पात्र है । सूत्रधार का अर्थ है सूत्र या डोरियों को धारण करने वाला । संभव है कि पुतलियों के तमाशे में विभिन्न पुतलियों को धागे से संचालित करने वाला कलाकार ही इस नामकरण के मूल में रहे हों । कालांतर में 'सिंहासन बत्तीसी' आदि कथाओं में तो पुतलियों का इतना स्पष्ट उल्लेख है कि उनकी प्राचीनता में संदेह का अवकाश ही नहीं रहता । वर्तमान युग में भी पुतलियों का खेल भारत में ही नहीं अपितु विश्व भर में लोक मनोरंजन का साधन बना हुआ है । मुख्य रूप से इस खेल में निम्नलिखित प्रकार की पुतलियों का प्रयोग किया जाता है-

1. कठपुतली

अपने नाम के अनुरूप यह पुतलियाँ काठ से बनाई जाती हैं इनके अंग इस प्रकार जोड़े जाते हैं कि उनमें लचक रहती है । इन्हें डोरियों से संचालित किया जाता है । यह पुतलियों का संभवत: प्राचीनतम व सर्वाधिक प्रकार है ।

2. दस्ताने वाली पुतली

मूलरूप से पाश्चात्य देशों में प्रचलित इस पुतली का इधर कुछ अरसे से भारत में भी प्रयोग होने लगा है । दस्ताने की भाँति हाथ में पहन कर उंगलियों के माध्यम से इसे संचालित किया जाता हे ।

3. सलाई-संचालित पुतली

चीन और तुर्किस्तान में संभवत: इन पुतलियों का उद्भव हुआ किन्तु इस प्रकार की कुछपुतलियाँ दक्षिण भारत में भी प्रयुक्त होती है । आकार में छोटी, वजन में हल्की तथा रंगीन चमड़े से बनी ये पुतलियाँ अपने आधार पर बंधी हुई सलाइयों या डंडियों के द्वारा संचालित होती हैं । इसी प्रकार की एक अन्य पुतली भी, जिसका आकार अधिक चौड़ा होता है । दक्षिण भारत में सिलाई के द्वारा प्रयुक्त होती है ।

पुतलियों की अन्य भी कई किस्में है । सपाट व चपटी आकृति वाली रंगीन मोटे कागज की पुतलियों के भी तमाशे होते हैं । इस कमी को पूरा करने के लिए तमाश करने वाला अधिक संवादों का सहारा लेता है तथा अपने मुख से तरह - तरह की आवाजें निकाल कर नाटकीयता की सर्जन करता है । पुतलियों की सजावट, वेषभूषा आदि परम्परागत ही होती है । प्रदेशगत प्रभाव भी इन पुतलियों पर दिखाई देता है । उदाहरण के लिए राजस्थान की पुतलियाँ आकार-प्रकार-पहनावे आदि से राजस्थानी लगती है । तो दक्षिण की पुतलियाँ अपनी बनावट में पूर्णत: दक्षिणात्य प्रतीत होती है ।

पुतलियों का खेल करने वाला अधिकांशत: किसी स्थान पर एक चारपाई खड़ी करके उसके आगे मंच बना लेता है । मंच की छत खुली हुई होती है जहा से आवश्यकता पड़ने पर पुतली का प्रवेश या निष्क्रमण नियंत्रित किया जाता है । प्रकाश व्यवस्था के लिए लालटेन या गैसबत्ती आदि का प्रमुखत: प्रयोग किया जाता है । किन्तु यह प्रकाश व्यवस्था कुछ ऐसी होती है कि प्रकाश होने पर भी पुतलियों की डोरियाँ नहीं दिखाई देती हैं । प्रदर्शन के विषय भिन्न-भिन्न होते हैं । दक्षिण में कई स्थानों पर मंदिरों में उत्सव के अवसर पर कठपुतली का खेल दिखाने वाले कुथूकर नामक कलाकार धार्मिक कथाओं का प्रदर्शन करते हैं । इन खेलों के लिए मंदिर में ही किसी उचित स्थान पर मंच या 'कुथूमंडपम् ' का निर्माण किया जाता है । रामायण-महाभारत-पुराण आदि की कथाऐं भारतवर्ष' के एक बड़े भाग में पुतलियों के माध्यम से दिखाई जाती हैं । उत्तर भारत में इन कथाओं की जगह ऐतिहासिक घटना या सामाजिक हास्य का प्रदर्शन अधिक लोकप्रिय है जबकि राजस्थान में दौर नायकों की कथाओं या लोक कथाओं का प्रदशन बहुतायत से किया जाता है ।

दक्षिण भारत में चमड़े की पुतलियों के माध्यम से रामायण व महाभारत की कथाएँ प्रस्तुत की जाती हैं । परदे के पीछे से संवाद-गायन करते हुए आगे लगे हुए परदे पर छाया नाटक के रूप में यह खेल किया जाता है । परदे के पीछे जलाए गये दियों के प्रकाश में पुतलियों की आकृतियाँ परदे पर उभरती हैं । दर्शकों की ओर अंधेरा रहता है । पावाकुथू तथा तोलबोम्मलु के नाम से प्रसिद्ध इस लोकप्रिय छाया नाट्य में सूत्रधार कुछ इस तरह बैठता है कि उसकी छाया तक सफेद परदे पर दिखाई नहीं देती । कभी- कभी पुतलियों के इन छाया नाटकों में पंचतंत्र की कथाओं को भी विषय बनाया जाता है । रहस्य, आश्चर्य, कल्पना और सत्य का स्पर्श लिए इस खेल का अद्भुत सौन्दर्य घंटो तक जन समुदाय को बाँधे रखता है । रंगमंच की लोकधर्मी परम्परा में इन पुतलियों का अपना निराला संसार है जिसकी सारी विशेषताएँ इनका खेल करने वाले सदियों से सुरक्षित हैं । नाट्य की लोक धर्मी परम्परा को अन्य विधाओं की भाँति ये पुतलियाँ भी जीवन के यथार्थ को जैसा है उसी रूप में प्रस्तुत नहीं करतीं अपितु उसे तोड़फोड़ कर दर्शक को एक ऐसे नए लोक में ली जाती हैं जो कल्पित होते हुए भी यथार्थ बन जाता है ।

33.32 इकाई सारांश

भारतीय रंगमंच की लोकधर्मी परंपरा मुख्यत: जनसाधारण की जागरूकता एवं अभिव्यक्ति का परिचय देती है । महत्वपूर्ण है कि जनमानस ने साधारण स्तर पर ही व्यक्तिगत रूचि लेकर कला के उत्कृष्ट आयामों को गति दी है । भारत का कोई खण्ड ऐसा नहीं है, जहाँ इन परम्पराओं ने घर नहीं बनाया है । उन परम्पराओं का विषय धर्म, शौर्य, त्याग, साहचर्य एवं सहयोग तथा साथ ही भक्ति प्रधान रूप रहे हैं । इनके माध्यम से साधारण जन ने यहाँ समझाया है कि सांस्कृतिक मूल्य किसी विशिष्ट वर्ग की धरोहर नहीं है । इन परम्पराओं ने मनोरंजन व शिक्षा दोनों का कार्य किया है । इनका संवाद सदा ही स्थानीय परिवेश में स्थानीय जुबान में ही हुआ है । वस्तुत अन्याय पर न्याय की विजय का सबल प्रदर्शन इन माध्यमों से ही प्रामाणिक स्तर पर हुआ है ।

33.33 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए -

1. स्वांग से आप क्या समझते हैं?

2. फड़ किन परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करती है?

3. पागलवेश में किन भावनाओं का प्रदर्शन किया जाता है?

4. बिदेसिया किस क्षेत्र से सम्बन्धित है व इसके मुख्य लक्षण क्या है?

(आ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिए :-

1. रामलीला ने लोकधर्मी नाट्य परम्परा को कहीं तक प्रभावित किया?

2. ख्याल का आयोजन किस प्रकार होता है?

3. महाराष्ट्र में तमाशा एक भव्य आयोजन है, समझाइये ।

4. पुतलियों का खेल किस प्रकार आयोजित होता है?

33.34 प्रासांगिक पठनीय ग्रन्थ

1. लोकधर्मी नाट्य परंपरा - डॉ. श्याम परमार
2. रंगमंच - बलवंत गार्गी
3. भारतीय लोक नाट्य परंपरा - डॉ. महेन्द्र भानावत
4. लोक नाट्य : नए संदर्भ - सुधा राजहंस (संपादक)
5. ड्रामा इन रूरल इण्डिया - जे. सी. माथुर
6. पारंपरिक भारतीय रंगमंच : अनंत धाराएँ - कपिला वात्स्यायन

इ

इकाई 34 : "युग युगीन भारतीय स्थापत्य"

इकाई संरचना

34.1 उद्देश्य

34.2 प्रस्तावना

34.3 प्राचीन काल की स्थापत्य कला

34.5 मध्यकालीन भारत की स्थापत्य कला

34.5 आधुनिक भारत की स्थापत्य कला

34.6 स्थापत्य की विभिन्न शैलियों पर प्रकाश

34.7 स्थापत्य के महत्वपूर्ण स्मारक

34.7.1 स्तूप

34.7.2 चैत्य

34.7.3 विहार

34.7.4 स्तम्भ

34.7.5 दुर्ग

34.7.6 राजप्रसाद

34.7.7 वाणी, तड़ाग, दीर्घिका, कूप आदि ।

34.8 इकाई सारांश

34.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

34.10 प्रासांगिक पठनीय प्रश्न

34. 1उद्देश्य

अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत में स्थापत्य के प्रति अनुराग पाया जाता है । इसका जीता जागता प्रमाण वे सजीव कलाकृतियाँ है जो देश में सर्वत्र बिखरी हुई हैं । इसमें भारतीय संस्कृति एवं परम्परा की अनुपम झांकी देखने को मिलती है । भारतीयों ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही रूपों से इस कला की सतत साधना की है ।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगे कि : -

1. भारतीय स्थापत्य की मूल भावना क्या है?
2. किन-किन परिस्थितियों में यह विकसित हुई व किस प्रकार यह पतन की ओर उन्मुख हुई ।
3. बाह्य तत्वों ने इसे कहॉ तक प्रभावित किया ।
4. इसके मूल मापदण्ड किस प्रकार के हैं ।
5. भारतीय सभ्यता व संस्कृति के इतिहास में इनका क्या योगदान है ।

34.2 प्रस्तावना

भारतीय स्थापत्य एक प्रकार से परिनिष्ठित कला है जिसमें एक वर्गीय कलाकारों से काम नहीं बनता इसमें भवन निर्माता, मूर्ति -निर्माता, चित्रकार तथा इन सबके नेता स्थापक आचार्य सभी

की समन्वित साधना अपेक्षित है । स्थापत्य का अत्यन्त प्राचीन रूप नव प्रस्तर युगीन मानव ने प्रस्तुत किया, जब उसने गीली मिट्टी छापकर फूस कि कुतिया अपने रहने के लिए खड़ी की । फिर जब उसने कृषि को आरम्भ किया तब आवश्यकता सिंचाई के उपकरणों की पड़ी तथा बांध बनाये गये । वे धीरे-धीरे गाँवों को निर्माण करने लगे तथा मिट्टी पत्थरों के परकोटों से अपनी रक्षा करने लगे नगर निर्माण की दिशा में भारतीय मानव का यह प्रथम कदम था ।

भारतीय स्थापत्य कला के विकास की जानकारी सिन्धु घाटी की सभ्यता में स्थित मोहन जोदड़ो और हड़प्पा के उत्खननों के द्वारा प्राप्त हुई है ।सिंधु घाटी की सभ्यता का काल इतिहासकारों ने 3000 ईस्वी पूर्व निश्चित किया है । सिन्ध और पंजाब में पुरातत्ववेताओं ने जिन दो नगरों वे अवशेषों का पता लगाया है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के नगरों की स्थापना सुनियोजित ढंग से की जाती थी । इसी प्रकार नगरों में जल निकाल व्यवस्था (ड्रेनेज सिस्टम) भी यह बताते हैं कि प्राचीन काल के निवासी प्रदूषण एवं पर्यावरण के प्रति बहुत अधिक सजग थे ।

मध्यकाल में जो भवन मुस्लिम शासकों के द्वारा बनाये गये थे, उनकी वास्तुशैली प्रारम्भ में हिन्दू शैली से प्रभावित थी । कालान्तर में उसमें मध्य एशिया की शैली का समिश्रण हो गया था । निर्माण कार्य करने वाले भारतीय शिल्पकार थे, जिनमें भी अधिकांश हिन्दू जाति के थे । अतएव। कारीगरों के द्वारा छेनी और हथोड़े का प्रयोग करते समय उनके स्वभाव और आदत के अनुसार, हिन्दू शैली का पुटमुस्लिम कलाकृतियों में अनायास प्रविष्ट हो गया । ब्रिटिश शासन काल में जो भवन भारत में बनाये गये, उनमें गिरजाघरों के अतिरिक्त सार्वजनिक भवन, विशालता लिए हुए, स्मारक तथा इंग्लैण्ड के नक्शे कदम के अनुसार आवास व सभा भवन बनाये गये थे । इनमें कमरों की लम्बाई चौड़ाई अधिक होती थी, और ऊँचाई विशेष रूप से 15 या 20 फीट रखी जाती थी । यह परम्परागत भारतीय वास्तुकला से भिन्न थी । विशालता के साथ-साथ ब्रिटिश काल में भवनों के निर्माण में सादगी लिए हुए सौन्दर्य पर भी ध्यान दिया गया था, जबकि मध्यकाल की इमारतों में अलंकरण पर विशेष ध्यान दिया जाता था । सममिति की उपेक्षा शिल्पकारों ने कभी नहीं की । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 5000 वर्ष के लम्बे सफर में भारतीय स्थापत्य कला में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन तथा उतार-चढ़ाव आए थे । विदेशी आक्रमणकारियों ने यहीं के प्राचीन धार्मिक और आवासीय भवनों को नष्ट करके उनके स्थान पर अपनी रुचि एवं आदर्शों, आवश्यकता के अनुसार भवनों का निर्माण करवाया था ।

19.2. 2 भारत की प्राचीनतम स्थापत्य कला के अवशेष मोहन जोदड़ो और हड़प्पा में विद्यमान है । इनका पता इस शताब्दी के तृतीय दशक में पुरातत्ववेताओं के द्वारा लगाया गया था । नगरों को बसाते समय चौड़ी सड़कें और संकरी गलियों का निर्माण किया गया था । सड़कों के किनारे दुकानें और (कक्षिका) बनाये गये थे । आवासीय भवन अधिकांशत: एक मंजिल के थे । लेकिन, दो मंजिल के भवनों के भी प्रमाण उपलब्ध हुए हैं । मिट्टी को थॉफ़कर छतों का निर्माण किया जाता था । प्रत्येक आवासीय भवन के साथ एक शौचालय (बाथरूम) होता था । जो अधिकांशत: गली के निकट बनाया जाता था, ताकि गन्दे पानी का बिना किसी रूकावट के निकास ही सके । पानी की निकासी की व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया गया था । प्रत्येक वाली को ईंटों के द्वारा ढक कर उसे मुख्य हौज (टैंक) तक पहुँचाया जाता था । नालियों को बनाते समय ईंटों के कल्वर्ट (Culvert) बनाये जाते थे, और उन्हें

ढकने की परम्परा थी । इसलिए पानी अधिक बेग के साथ छोटी नाली से बड़ी नाली में नहीं गिरता था । आवासीय भवनों में कुएँ बनाने की भी प्रथा थी ।

हड़प्पा के जिन भवनों के अवशेष मिले हैं, उनमें 12 समानान्तर दीवारों के खण्डहर उपलब्ध हुए हैं । सम्भवत यह कोई विशाल भवन का खण्डहर होगा, जिसमें 12 प्राचीरों के द्वारा उसे छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित किया गया था । मोहन जोदड़ो से जिन भवनों देन अवशेष मिले हैं, उनमें विशेष रूप से स्नानागार के अवशेष, महत्वपूर्ण है । इसकी कला को देखकर देश-विदेश के कला मर्मज्ञ भी आश्चर्यचकित रह गये । स्नानागार के मुख्य हौज तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई थी । जो स्नानागार में चारों दिशाओं में बनी हुई थी । इस भवन में आठ शौचालय (बाथरूम) थे । उत्तर के स्नानाघर (गुसलखानों) में ऊपर की मंजिल तक पहुँचने के लिए सीढ़ियां बनी हुई थी ।इस स्नानागार के महत्व के सम्बन्ध मे आज तक विद्वान सही निर्णय नहीं कर सके है । ऐसा प्रतीत होता है कि स्नानगृह का निर्माण मोहन जोदडों के निवासियों के रहन-सहन का आवश्यक अंग था।

सिन्धु घाटी की सभ्यता के विनाश के पश्चात् से लेकर चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व के बीच वास्तुकला के सम्बन्ध में जानकारी के स्रोत बहुत कम और अविश्वसनीय है । समकालीन साहित्यिक कृतियों के आधार पर रिक्तता की पूर्ति पुरातत्ववेताओं के द्वारा कर दी गयी है । लेकिन स्थापत्य कला के विकास का अनवरत और क्रमिक विकास पूर्व वैदिक काल से प्रारम्भ हुआ था । उस समय गाँव को गढ़ अथवा गतियों बनाकर सुरक्षित रखने की परम्परा प्रारम्भ हो गई थी । आर्यों ने दस्यु शत्रुओं से रक्षा करने के उद्देश्य से गढ़ियों के निर्माण की प्रथा प्रारम्भ कर दी थी ।

वैदिक काल में भवन बहुत अधिक भव्यता लिए हुए नहीं होते थे । अधिकांश व्यक्ति छप्परों से आच्छादित भवनों में रहते थे । इन आवासों में एक से अधिक कमरे होते थे । आवासीय भवनों में बीचों - बीच एक हॉल का निर्माण करवाया जाता था । इस हॉल के इर्द -गिर्द छोटे कमरे बनाए जाते थे जो निवास अथवा कोठार के रूप में प्रयोग मे लिए जाते थे ।

बौद्ध साहित्य और महाकाव्यों को पढ़ने से पता चलता है कि उत्तर वैदिक काल के पश्चात् नगरों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था । महलों का निर्माण भी प्रारम्भ हो चुका था । पाटलीपुत्र नगर के खण्डहर इस काल के भवन निर्माण के ज्वलंत उदाहरण हैं । मैगास्थनीज ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि भवनों में सकड़े गलियारे और सुराख रखे जाते थे । जिनसे हवा और रोशनी प्राप्त होती रहे । भवनों की छते बनाते समय आर्च (Arch) बनाये जाते थे । महलों के चारों और एक गहरी खाई खोदी जाती थी । पाटलीपुत्र का राज-महल एक विशाल भवन है, जिसमें कई हॉल बने हुए थे । अशोक युग की स्थापत्य कला में भव्यता दिखाई देती है । सम्भवत: सर्वप्रथम स्थापत्य शैली में पत्थर का प्रयोग अशोक के काल में ही किया गया था । अशोक कालीन कला की विशेषता स्तम्भ है, जिन पर शिलालेख खुदवाये गये थे । सारनाथ का स्तम्भ सर्वाधिक प्रसिद्ध है । इसकी चारों दिशाओं में चार सिंहों की आकृतियाँ बनी हुई है, जिनको एक हाथी की पीठ पर टिका हुआ बताया गया है । हाथी के साथ-साथ घोड़ा, बैल और एक सिंह की आकृति भी इस स्तम्भ में दिखाई देती है । स्तम्भों पर उत्कृष्ट कोटि की पॉलिश की हुई है । अशोक कालीन कला की कृतियाँ बारा-बर पहाड़ियों में भी विद्यमान है । इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध सुदामा गुफा है, जिसमें गोलाकार चेम्बर और अन्तर्गृह बना हुआ है, और सब दिशाओं में प्रवेश द्वार बने हुए हैं । अशोक कालीन कला की उत्कृष्ट कृति पाटली पुत्र का राज प्रसाद है । इसे परसी पॉलिश के सम्राट के दारा निर्मित आर्किमिडियन हॉल के नमूने पर बनाया गया प्रतीत होता है।

200 ईस्वीं तक का समय भारतीय वास्तुकला के इतिहास में ऐसा युग था, जिसमें अशोक कालीन कला की कृतियों के समान ही भवनों का निर्माण कराया जाता था । दूसरी शताब्दी ईस्वीं पूर्व की पूना के निकट भाजा में एक पुराना बिहार है, जिसकी खोज डॉ. कुमार स्वामी के दारा की गयी थी । इसमें इन्द्र को आइवेताओ (Aivavata) पर सवारी करते हुए दिखाया गया है । पूना के निकट ही विदिशा की गुफायें है, जिनमें एक स्तूप और एक ऐसी प्रदक्षिणा का निर्माण किया गया कि जो चारों ओर चक्कर लगाने के लिए काम में लिया जाता होगा । कार्लिका चैत्य हाल पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व का है, यह गुफा निर्माण वास्तु शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है । इसमें जो खिड़कियाँ बनायी हुई है, वह घोड़े के खुर की शक्ल की है । बड़े -बड़े स्तम्भ है और उनके ऊपर अलंकृत की हुई आकृतियाँ दर्शकों के आकर्षण का केन्द्र है । भारहुत का स्तूप भी 150 ईस्वीं के लगभग का है । इसका मुख्य द्वार और रैलिंग यक्ष और यक्षणि और बुद्ध की जन्म कथाओं (जातकों तथा जानवरों की आकृतियों से अलंकृत है । बुद्ध की स्वयं की आकृति नहीं बनायी गयी थी, लेकिन उसके जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं को संकेतों के द्वारा वास्तु विदों ने अलंकृत किया था । गया के बौद्ध वृक्ष के साथ विशेष मन्दिर बने हुए हैं, जो दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व से दूसरी ईस्वी तक की घटनाओं को बतलाते हैं । इसकी छत में रोशनदान बने हुए हैं । खिड़कियाँ चैत्यकार है जिन्हें स्तम्भों के ऊपर टिकाया गया है । इसके नीचे का आधार मालटीज क्रॉस के समान है ।

साँची का स्तूप अलग- अलग काल में बनाया गया प्रतीत होता है । स्तूप का आधार मौर्य काल का प्रतीत होता है, जबकि स्तूप एवं तीसरी मंजिलें संगम से प्रभावित है। मुख्य द्वार सात-वाहन युग का लगता है, जिसे 72 ईस्वीं पूर्व से 25 ईस्वी पूर्व के बीच बनाया गया होगा । लेकिन और भी ऐसी कृतियाँ है जो वैक्टिरियन कला से प्रभावित दिखायी देती है । इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि शिल्पकला का विस्तार तो हुआ था, परन्तु भारतीय कला पर हैलेन्स्टिक कला का प्रभाव पड़ा । साँची के स्तूप का मुख्य द्वार अलंकृत है और उसके देखने से युग-युगीन भारतीय स्थापत्य कला के विकास की कहानी स्वत: स्पष्ट हो जाती है । कलाकारों का उद्देश्य जातक कथाओं में वर्णित बौद्ध के जीवन की घटनाओं को चित्रित करना था । तौरण और आर्चनुमा वास्तुकला की शैली के प्रमाण सर्वप्रथम सींची के स्तूप में ही दिखाई देते हैं ।

तक्षशिला से जो उत्खनन प्राप्त हुए, उन खण्डहरों को देखने से पता चलता है कि इनका निर्माण 78 ईस्वीं से 302 ईस्वी के बीच कराया गया होगा । तक्षशिला की वास्तु शैली मठों की शैली के समान है जो मूल रूप से भारतीय स्थापत्य शैली है । इसमें किसी प्रकार का घुमाव इत्यादि दिखाई देती है जो प्राचीनतम स्थापत्य शैली के अपभ्रंश है । गांधार शैली में निर्मित मत मूलत: दो भागों में विभाजित होते थे । स्तूप और मठ और इसके साथ अन्य भवन भी निर्मित किये जाते हैं ।

दक्षिण भारत की स्थापत्य शैली का सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रतीक अमरावती का स्तूप है । सम्भवत: यह दूसरी शताब्दी ईस्वीं पूर्व में बनाया गया था । इसमें पहली, दूसरी और तीसरी शताब्दी ईस्वी में कैसिंग स्लेप्य और रैलिंग्स का निर्माण किया गया । स्तूप के ड्रम पर चार आकृतियाँ बनी हुई है जो प्रत्येक दिशा के द्वार पर स्थित स्तम्भों पर आधारित की गई थी! इसको अराया खम्भा कहकर पुकारा जाता है । स्तूप के चारों और एक रैलिंग है जिस पर अलंकृत की हुई जातक क्थाओं की कहानियों को दीवारों और उन नगरों को शहर पनाओं पर खोदा गया था जो खाई से सुरक्षित है । इनमें राज

प्रसाद के तौरण स्तूप इत्यादि दिखाई देते हैं स्पष्ट हो जाता है कि कल मर्मज्ञ अमरावती स्तूप की वास्तुकला को भारतीय शिल्पशास्त्र का रासा कहकर पुकारते हैं वह सही है ।

भारतीय स्थापत्य कला और शिल्प कला का सर्वोतोन्मुखी विकास गुप्त काल में (1320 से 650 ईस्वीं पू.) हुआ था । उसी काल में देवालय निर्माण शैली का विकास हुआ था । सारनाथ(बनारस के निकट) धमेक (dhamek) स्तूप छठी शताब्दी ईस्वी का है । इसको ज्योमिति के आकार पर निर्मित शैली अपने कावर्ड ओरनामेन्ट्स तथा फलोरल डिजाइन के लिए प्रसिद्ध है । इस काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृत्तियाँ अजन्ता की गुफाएँ (नं. 16, 17, और 19) : हैं, जिनके स्तम्भ निर्माण और मूर्ति चित्रण की कला अद्‌वितीय है । चैत्याकार खिड़कियों और उनमें दौहरी कॉर्निस गुफा नं. 19 में दिखाई देते हैं कि जो कला मर्मज्ञों की दृष्टि में गुप्त कालीन देवालय शैली की सर्वोत्कृष्टि कृति है । (संलग्न चित्र) साँची से सपाट छत वाले जिन मन्दिरों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं उनमें सर्वाधिक प्रसिद्धि भूमरा का शिव मन्दिर है । बौद्ध गया का महाबोधि मन्दिर भी पूर्व गुप्त कालीन कला का उत्कृष्ट नमूना है । इस प्रकार भारतीय राज प्रसाद निर्माण की उत्कृष्ट कृतियाँ गुप्त काल में निर्मित की गयी थी । लेकिन अब वे नष्ट हो चुकी है । उनके समकालीन चित्रों में जो चित्रण किये गये हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि गुप्त काल के राज प्रसाद एक अथवा दो मंजिल के होते थे, जिनमें हॉल होते थे, स्तम्भों पर टिके हुए थे । उनमें भित्ति चित्र अलंकरण के लिए बनाये जाते थे ।

गुप्त शासकों के पतन के पश्चात् स्थापत्य कला के विकास का उल्लेखनीय अध्याय चालुक्य, राष्ट्रकूट और पल्लव शासकों के शासन काल में दक्षिण भारत में तथा पालवंश के शासकों के संरक्षण में उत्तर भारत में हुआ था । स्थापत्य कला के इतिहास में इसका समय 650 ईस्वी से 900 ईस्वी के बीच माना जाता है । इनमें सर्वाधिक आकर्षक और प्रसिद्ध नालन्दा विश्व विद्‌यालय के खण्डहर है जो बौद्ध धर्म से प्रभावित सातवीं शताब्दी की शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं । यह विश्व विद्‌यालय ईंटों की दीवारों का बना हुआ है । उसमें एक विशाल हॉल है, जिसमें विभिन्न दिशाओं के द्‌वार आकर खुलते हैं । विद्‌यालय का एक छोटा सा हॉल भी है जो दूसरे हॉलो से पृथक है । सितारों की गतिविधियों को देखने के लिए ओबसर्वेटरी (Observatory) आचार्यों और पुजारियों के लिए अलग-अलग चैम्बर बने हुए हैं । इनमें एक कक्ष दूसरे कक्ष से पृथक करने के लिए अलंकृत स्तम्भों का निर्माण किया गया था ।

चालुक्य वास्तुशैली का विकास 550 ईस्वीं से 746 ईस्वीं के बीच हुआ था । इस काल की कलाकृतियों में आई-हॉल पट्टाकाल काल और बादामी के मन्दिर सर्वाधिक प्रसिद्ध है । शिव का विशाल

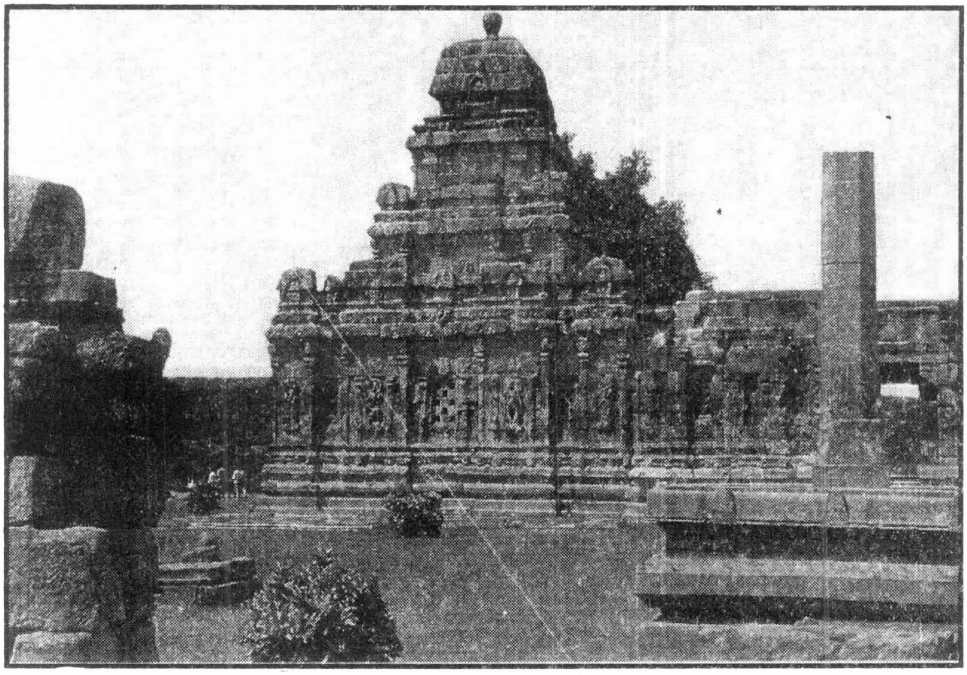

गालगनाथ मंदिर (चालुक्य शैली)

वीरू पाक्ष मानर पटाधकाल में 740 ईस्वीं के लगभग बनाया गया था । इसे एक ऐसे गौण्डा शिल्पशास्त्री के द्वारा बनाया गया था जिसे त्रिकाल दर्शी की उपाधि से विभूषित किया हुआ था ।बादामी का वैष्णव गुफा मन्दिर अपने स्तम्भों के सौन्दर्य एवं बरामदों में बनी हुई विभिन्न आकृतियों के कारण प्रसिद्ध है ।

राष्ट्रकूट काल की कला कृतियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध ऐलोरा का कैलाश मन्दिर है, जिसे कृष्ण द्वितीय ने अपने शासन काल में 757 ईस्वीं से लेकर 783 ईस्वीं के बीच बनवाया था । इसकी शिल्पशैली भारतीय स्थापत्य शैली का चरम उत्कर्ष है । इसी काल मे एलीफेन्टा में शिव मानर बनाये गये थे । यह बम्बई के निकट है । यह अपनी सुन्दरता और त्रिमूर्ति शिव की आकृति के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध है ।

पल्लव वंश के शासक दक्षिण भारत के शक्तिशाली शासक थे । पूर्वी तट पर इसका विशाल साम्राज्य 400 ईस्वी से लेकर 750 ईस्वीं के बीच रहा है । महाबली पुरम में पाँच रथ इन्हीं के काल में बनाये गये थे । सम्भवत: इनका निर्माण सातवीं शताब्दी में हुआ होगा । इस शैली की विशेषता इसमें बने हुए देवताओं और मनुष्य की आकृतियाँ बहुत ही अधिक आकर्षक और सुन्दरहै । काँची के कैलाशनाथ का मन्दिर भी पल्लव शासकों के काल की कृति है । इसका निर्माण आठवीं शताब्दी में करवाया गया था ।

पूर्व मध्यकाल की (900 ईस्वी से 1300 ईस्वीं के बीच) भारतीय वास्तु शैली की कई कृतियाँ उपलब्ध है । इनका निर्माण पाल, चालुक्य, चौल, गंगा और राजपूत शासकों के शासन काल में अलग-अलग केन्द्रों पर हुआ था । स्वाभाविक रूप से प्रत्येक केन्द्र की शैली एक दूसरे से भिन्न है । खजुराहों के मन्दिरों का निर्माण 950 से 1050 ईस्वीं के बीच ही करवाया गया था । महादेव मन्दिर, जो खजुराहों में है, वह अपने आधार स्तम्भ एवं मीनार के लिए प्रसिद्ध है । इसमें भी आकर्षण के केन्द्र

मानव आकृतियां है, जिनको बहुत अधिक सतर्कता और सुन्दरता के साथ शिल्प शास्त्रियों ने बनाया था । इस काल में आधुनिक मध्यप्रदेश के उदयुपर नामक स्थान पर उदेश्वर का मंदिर 1059 से 1080 के बीच बनाया गया था । इन मंदिरो का शिखर चारों दिशाओं में सुन्दर आकृतियों के द्वारा अलंकृत है ।

इसी काल में गुजरात में सिद्धपुर में स्ट्रमल मंदिरों का निर्माण 1094 से 1143 ईस्वी के बीच सिद्धराज के द्वारा करवाया गया था । आबू पर्वत पर विमल शाह के द्वारा प्रसिद्ध जैन मन्दिर का निर्माण 1032 में करवाया गया था जो आदिनाथ भगवान को समर्पित है । आबम पर्वत पर ही 1230 के लगभग वास्तुपाल और तेजपाल के मन्दिरों का निर्माण करवाया गया था । जो जैन तीर्थकर के मन्दिरों का निर्माण करवाया गया था जो जैन तीर्थकर नैमीनाथ को समर्पित है । यह मन्दिर संगमरमर के बने हुए हैं ।

उड़ीसा में जिन मंदिरों के अवशेष उपलब्ध है, उनका निर्माण सातवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी के बीच भिन्न शैली में किया गया था । इसे नागर शैली कहकर पुकारते हैं । परमेश्वर का शिवालय अपनी दोहरी छत, मण्डप और ठोस दीवारों के लिए प्रसिद्ध है । दोनों छतों के बीच आने -जाने का मार्ग बना हुआ था । भूतेश्वर का लिंगराज मन्दिर अपनी विशालता और सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है । इसका शिखर इतना अधिक सुन्दरता के साथ बनाया गया था कि आज भी कला मर्मज्ञ उनको देखकर दाँतो तले उँगलियाँ चबाते हैं । कौणार्क का सूर्य मन्दिर 1238 से 1264 इस्वीं की बीच बनाया गया था । इसकी सर्वाधिक विशेषता मण्डपों की छते हैं, जिनको तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया था । उड़ीसा शैली के मन्दिरों की शिल्पकला ईरोटिक प्रकृति की हे । इनकी अलंकृत शैली ने दर्शकों को आकृषित किया है । (सलंग्न चित्र देखिए)

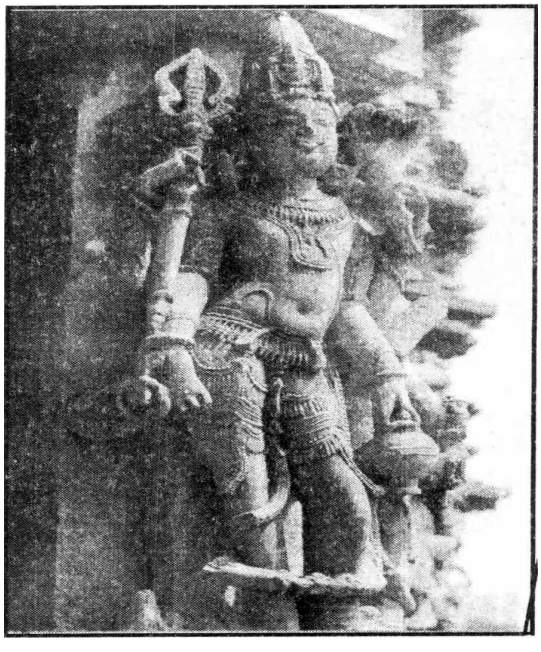

उपरोक्त वर्णन से निम्नलिखित तथ्य प्रमाणित होते हैं -

1. स्थापत्य शैली का विकास उत्तर तथा दक्षिण भारत दोनों में हुआ था ।
2. अधिकांश कलाकृतियों का निर्माण राजकीय संरक्षण में कलाकारों के द्वारा किया गया था ।
3. प्राचीन भारत में गांधार शैली के अतिरिक्त नागर शैली, उड़ीसा शैली और संगम शैली का पृथक-पृथक युगों में अलग-अलग शासकों के संरक्षण में विकास हुआ था ।
4. वास्तुकला की कृतियों में राज प्रसाद निर्माण शैली, मंदिर निर्माण शैली और मौर्य काल में मठों के अतिरिक्त स्तम्भों के निर्माण शैली का भी उद्भव एवं विकास हुआ था ।
5. इन कला कृतियों को देखने से धर्म के उत्थान और विकास की पर्याप्त जानकारी मिलती है । जातक कथाओं में वर्णित कहानियों के आधार पर प्राचीन भारत में बुद्ध से सम्बन्धित, उनकी

जीवन की गाथाओं का वर्णन करने वाली कृतियों के माध्यम से कलाकारों ने चित्रण किया था ।

19.2.3 मध्य काल में पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद राजस्थान और बुन्देल खण्ड के हिन्दू राजाओं ने बहु संख्यक भवनों के निर्माण करवाया था । ग्वालियर के महल का कुछ भाग राजा मानसिंह के शासन काल में (1486 से 1516 के बीच) निर्मित हुआ था । इस महल की दीवार की बुर्जियों और भव्य द्वार कला की दृष्टि से प्रसिद्ध है । सत्रहवीं शताब्दी में दतिया के राजा वीरसेन ने, जिस भव्य महल का निर्माण करवाया था, वह हिन्दू वास्तु शैली का अनुपम उदाहरण है । सत्रहवीं शताब्दी में ही आमेर के महलों में कक्षों का निर्माण करवाया गया था । इसकी स्थापत्य शैली संलग्न चित्र से स्पष्ट होती है । जोधपुर दुर्ग में भी भव्य बुर्जियाँ बनवायी गयी थी, और इस दुर्ग में प्राचीन राजमहल हिन्दू शैली में निर्मित है ।

भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद बारहवीं शताब्दी के बाद से उत्तर भारत में जिन भवनों का निर्माण करवाया गया था, उन्हें 'इन्डोसारसनिक स्थापत्य शैली' कहकर पुकारा जाता है । उस शैली में सीरिया, मिश्र, उत्तरी अफ्रिका और फारस की दासानियन वास्तु शैली का साम्मिश्रण हैं । लेकिन शैली का समग्र रूप से मूल्याँकन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम आदर्शों पर बनाये गये, भारतीय कारीगरों के द्वारा निर्मित भवनों में भारतीय वास्तु शैलियों के आदर्श यथावत दिखाई देते हैं, जिनका सम्मिश्रण अनायास हो गया था ।

1200 से 1500 ईस्वीं के बीच तुर्क अफगान शासन काल में जिस शैली का उद्भव और विकास हुआ था, उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रतीक जामा मस्जिद है, जिसका निर्माण कुतुबुद्दीन ऐबक के द्वारा 1191 में करवाया गया था । प्रारम्भिक मस्जिद में हिन्दू शिल्पकला की मूलभूत विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है । कालान्तर में इन्तुतमिश और अलाउद्दीन खिलजी के द्वारा इस मस्जिद को विकसित करवाया गया था । नमाज पढ़ने के तृतीय चौक का निर्माण अलाउद्दीन खिलजी के द्वारा करवाया गया था । तुर्क अफगान शैली का द्वितीय प्रसिद्ध भवन कुतुबमीनार है, जिसे अजान के टॉवर के रूप में प्रारम्भ में निर्मित करवाया गया था । कालान्तर में इसे विजय स्तम्भ के नाम से पुकारा गया । 1296 से लेकर अलाउद्दीन की मृत्यु तक भारत में जो भवन निर्मित किए गये उनमें बलवन का मकबरा और 1311 ई. में निर्मित अलाई दरवाजा प्रसिद्ध है । अलाई दरवाजा का मुख्य द्वार कुब्बत ऊल इस्लाम मस्जिद के ठीक सामने बनवाया गया था ।

तुगलक सुल्तानों के सिंहासनारोहण के साथ नया दिल्ली सल्लनत की स्थापत्य शैली में नया मोड़ आया था । अलंकरण को सादगी के स्थान पर अधिक महत्व दिया गया । तुगलुकावाद नगर का निर्माण गयासुद्दीन तुगलुक के द्वारा 1321 से 1325 के बीच करवाया गया था । इस नगर की भव्य दीवारें, उसकी बुर्जियाँ जिनमें सकड़े पोर्टल्स बने हुए हैं, और गयासुद्दीन की कब्र एक विशाल टापू के समान बनायी गयी थी । फिरोज तुगलुक के शासन काल में कई नगरों की स्थापना की गयी । ने किले बनवाये गये । पुराने किलों की मरम्मत करवायी गयी । महलों और मकबरों का निर्माण करवाया गया । फिरोज ने सार्वजनिक उपयोग के लिए विभिन्न भवनों का निर्माण कराया था । उदाहरण के रूप में फिरोजाबाद में 120 अतिथि गृह (खानकाओं) का निर्माण करवाया गया। दिल्ली मे पुराने किले में राजमहल का निर्माण करवाया । तुगलक काल की स्थापत्य कल की विशेषता एकान्तवासी पुनरावृत्ति

है । दिल्ली में फिरोज तुगलक के द्वारा कोटाला फिरोजशाह का निर्माण करवाया गया था, जो आज भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्मारक माना जाता है । फिरोजाबाद में दो मंजिला जामा मस्जिद का निर्माण करवाया गया । दिल्ली में अशोक कालीन स्तम्भ को कोटला फिरोजशाह के द्वार के सम्मुख (स्थानान्तरित करके) स्थापित करवाया गया था । इसे अम्बाला जिले के तोपड़ा नामक स्थान से लाया गया था । इसी प्रकार मेरठ जिले में अशोक कालीन स्तम्भ को कुश्क-ए-शिकार महल में स्थापित किया गया । फिरोज का वजीर वान-ए-जहाँ तिलेजानी था, जिसकी 1368 ईश्वी में मृत्यु हो गयी थी । उसकी स्मृति में निजामुद्दीन ओलिया की दरगाह के सम्मुख मकबरे का निर्माण करवाया गया था ।

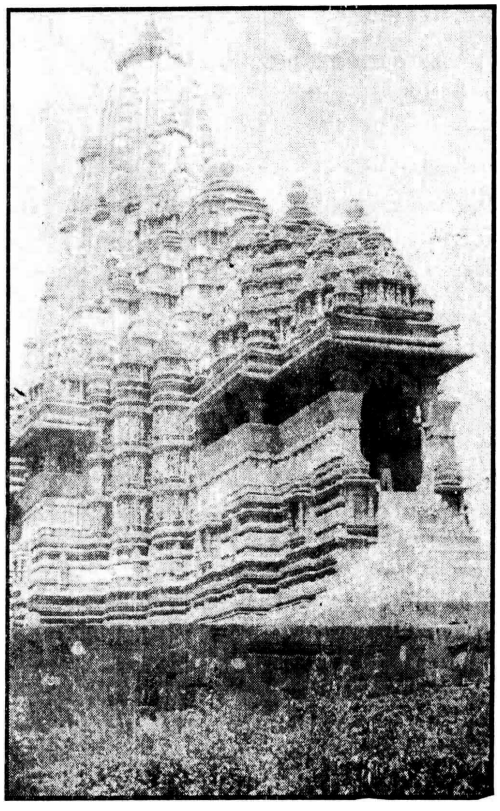

सैयद और लोदी सुल्तानों के शासन काल में कोई महत्वपूर्ण भवनों का निर्माण नहीं करवाया गया । फर्श के आकर्षण पर इन सुल्तानों ने सर्वाधिक महत्व दिया था । नीली रंग की चमकदार टाइलें फर्शों पर लगायी गयी थी । इन लोगों ने सजावट को वास्तु शैली में समाविष्ट कर दिया था । कमल के आकार की मेहराबों का निर्माण लोदी सुल्तानों के शासन काल में प्रारम्भ हुआ था ।

दिल्ली सल्तनत मे प्रांतीय सूबेदारों ने भी स्थापत्य कला के विकास में योगदान दिया था । मोहम्मद बख्तयार खिलजी ने 1198 से 99 के बीच बंगाल में जिन भवनों का निर्माण करवाया था, उनमें ईंटों, बाँसों और लकड़ी का प्रयोग किया गया । बंगाल की स्थापत्य कला की विशेषता है कि वहाँ चौकोर ईंटों के स्तम्भ बनाये जाते हैं । छतें विशेष प्रकार की झुकी हुई बनायी जाती है । फर्श को सजाया जाता है । सम्भवत: ये विशेषताएँ बख्तयार खिलजी ने अपने निवास स्थान गौर से ग्रहण की होंगी । सिकन्दरशाह ने 1357 से 1389 ईस्वीं के बीच पांडुवा में अदीना मस्जिद का निर्माण करवाया था । पांडुवा में ही जलालुद्दीन मोहम्मद शाह का मकबरा है । बंगाल में स्थित गौड़ के भवनों में दाखिल दरवाजा सर्वाधिक प्रसिद्ध है जिसका निर्माण 1459 में करवाया गया था । जब अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात पर प्रथम बार आक्रमण किया था, तो वह वहाँ की वास्तुकला की सुन्दरता और आकर्षण से प्रभावित हुआ था । गुजरात के स्थापत्य में भवनों के निर्माण में लम्बाईचौड़ाई के अनुपात का पूरा ध्यान रखा जाता था । गुजरात को मुस्लिम वास्तु शैली अपने ढ़ंग की निराली शैली थी, जिसका प्रारम्भ चौदहवीं शताब्दी में हुआ था और विकास अहमदशाह के शासन काल में हुआ । उसने अहमदाबाद शहर की स्थापना की थी । अहमदाबाद की जामा मस्जिद और तीन दरवाजे अपनी भव्यता, विशाल आंगन और आकर्षक महलों के लिए आज भी प्रसिद्ध है । गुजरात के सुल्लान मोहम्मदशाह द्वितीय के शासनकाल में (1442-57) में सरखेज नामक स्थान पर शेक अहमद का मकबरा

बनवाया गया था । इसकी सादगी, स्तम्भों पर टिका हुआ विशाल हॉल, कलात्मक दृष्टि से प्रसिद्ध हैं । यह गुजरात का सबसे बड़ा स्मारक है । लेकिन गुजरात के सुल्लान महमूद बेगड़ा के शासन काल में स्थापत्य कला का सर्वोतोन्मुखी विकास हुआ था । इसने जूनागढ़, खेल और चम्पानेर के नगरों की स्थापना की थी । अहमदाबाद को सुन्दर बनाने के लिए शहपनाह का निर्माण करवाया गया । चौड़ी सड़कें बनवायी और स्थान-स्थान पर स्मृति चिन्ह लगवाये गये । चम्मानेर की सर्वाधि प्रसिद्ध इमारत जामा मस्जिद है जो गुजरात की अन्य मस्जिदों की तुलना में अधिक सुन्दर है । सरखेज में उसने अपने राजमहल का निर्माण करवाया और स्तम्भों पर टिके हुए बरामदे बनवाये । जगह-जगह खिड़कियों का निर्माण भी करवाया गया था । रानी सीपरी की मालखद अहमदाबाद में इसी के काल में बनवाई गयी थी । जिसके लिए कला मर्मज्ञ फर्गुसन ने लिखा है कि वह विश्व की सर्वाधिक सुन्दर इमारत है, जिसके कार्विन्ग्स (Carvings) बहुत अधिक सुन्दर है । इसी प्रकार सीधी सैयद की मस्जिद का निर्माण भी इसी के काल में करवाया गया था ।

गुजरात में धार और मांडू में एक विशेष प्रकार की वास्तुशैली विकसित हुई थी । मांडू मालवा की राजधानी थी । यहाँ के महल ' 'टी' शैप में बनाये गये । दरबार हॉल के ऊपर जनाने महल बनाये गये, इस प्रकार मांडू की जामा मस्जिद भी सर्वाधिक सुन्दर इमारत है ।

जौनपुर के शर्की सुल्तानों ने नयी वास्तुशैली का विकास किया था । 1378 में अटकला मस्जिद निर्माण करवायी गयी जो तुगलुक-कालीन मस्जिद की वास्तुशैली की नकल है । लेकिन इसका जो मुख्य द्वार है, वह तुगलक कालीन मस्जिदों के द्वार से भिन्न है । दक्षिण भारत में भी मध्य काल में दौलताबाद का किला बीदर में अहमद वली का मकबरा और गुलवर्गा की प्रसिद्ध जामा मस्जिद का निर्माण हुआ था ।

मुगल शासन की स्थापना के पश्चात् शेरशाह ने 1540 में हुमायूं को पराजित करके नये वंश के शासन कि स्थापना की स्थापना की थी। शेरशाह के शासन काल में सर्वाधिक सुन्दर भवन उसका स्वयं का मकबरा है, जो सहसराम में स्थित है। इसकी ऊँचाई इत्यादि वास्तु-शैली की दृष्टि से इतनी अधिक सुन्दर है कि कला मर्मज्ञ इसकी भूरी प्रशंसा करते हैं । (देखिए शेरशाह के मकबरे का चित्र) शेरशाह के शासन काल में ही किला- ए-कोहाना मस्जिद का निर्माण हुआ था ।

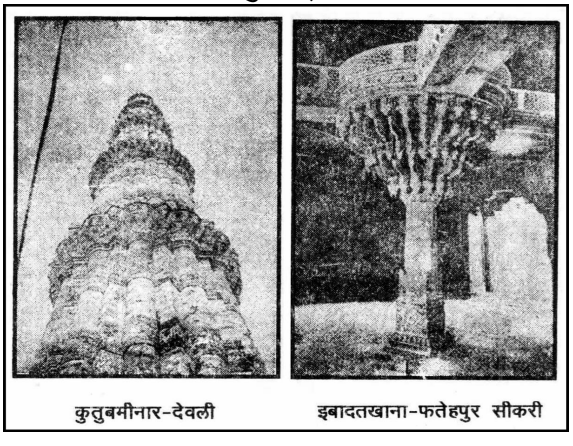

कुतुबमीनार-देवली इबादतखाना-फतेहपुर सीकरी

बाबर और हुमायूं के शासन काल में स्थापत्य शैली के विकास के रूप में विशेष प्रकार के भवनों का निर्माण नहीं करवाया गया था । बाबर के काल की मस्जिदें तथा धौलपुर से प्राप्त हमाम के खंडहर स्मारकों के रूप में विद्यमान हैं । लेकिन अकबर ने सिंहासनारूढ़ होते ही 1564 के आसपास अपने पिता हुमायूं के मकबरे का दिल्ली में निर्माण करवाया था । इसके बाद अकबर ने आगरा में किले और उसके भीतर महलों का निर्माण करवाया । अकबर के शासनकाल में ही लाहौर तथा अजमेर में किलो का निर्माण करवाया गया था । आगरा के किले में वास्तुकला की दृष्टि से सर्वोकृष्ट प्रतीक हाथीपोल

द्वार है । जिसको विशेष रूप से डिजाइन करके तैयार करवाया गया था । आगरा के किले में ही अकबरी महल और जहाँगीर महल स्थित है । इनको बनवाते समय भवनों के बीचों बीच आँगन का निर्माण और दो मंजिलें कमरों का निर्माण चारों दिशाओं में करवाया गया था । यह अपनी सजावट और आकर्षक शैली के लिए प्रसिद्ध है । अकबर ने आगरा से लगभग 26 मील की दूरी पर फतेहपुर सीकरी की स्थापना की थी और उसमें महलों का निर्माण करवाया था । फतेहपुर सीकरी में स्थित भवनों में आगरा दरवाजा, जोधाबाई का महल, इबादत खाना विशेष रूप से प्रसिद्ध है । बीरबल का महल और दीवान-ए-खास अपने कोणों की सजावट के लिए प्रसिद्ध है । इन भवनों की क्ले और उन पर की गई कार्विंग चिताकर्षक है । दीवान-ए-वाश का भीतरी भाग एक गैलेरी के द्वारा विभाजित है, जो ब्रैकिटों पर टिका हुआ है ।अकबर भवन बनवाते समय इबादतखाने के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया था । वैसे फतेहपुर सीकरी की जामा मस्जिद और बुलन्द दरवाजा भी अपनी भव्यता के लिए प्रसिद्ध है । अकबर ने अपने जीवन काल में ही सिकन्दरा में स्वयं के मकबरे का निर्माण कर दिया था । उसका समापन जहांगीर के शासन काल में हुआ था । सिकन्दरा के मकबरे के लिए कहा जाता है कि उसकी भव्यता और सौन्दर्य जहाँगीर के मकबरे से भी अधिक है, जिसका निर्माण उसकी मृत्यु के बाद लाहौर में नूरजहाँ बेगम ने करवाया था।

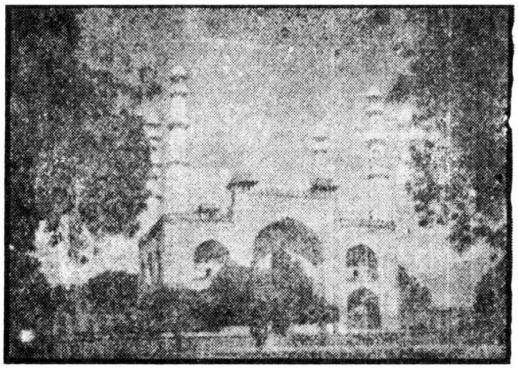

सिकन्दरा में अकबर का मकबरा

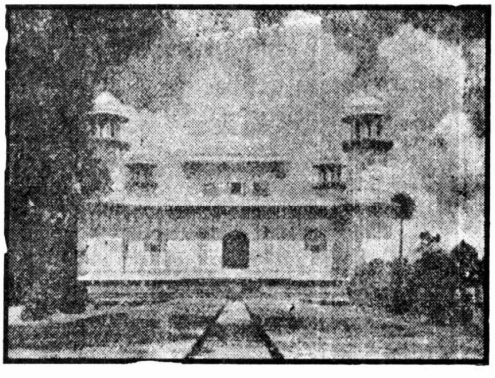

उत्माद्दौला का मकबरा, आगरा

एतमाउद्दौला के मकबरे का निर्माण उसकी पुत्री नूरजहाँ ने करवाया था । इन स्मारकों का निर्माण सफेद संगमरमर में करवाया था, जिनमें देश कीमती रंग बिरंगों पत्थरों को जड़ने की शैली प्रारम्भ हो गयी थी । शाहजहाँ के शासन काल में मुगलकान स्थापत्य कला अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी । उसने मकराना के संगमरमर का विशाल पैमाने पर भवनों के निर्माण में प्रयोग किया था । इसने स्थापत्य शैली में एक नवीन प्रयोग किया था । जो संलग्न चित्र से स्पष्ट हो जाता है । शाहजहाँ ने आधुनिक पुरानी दिल्ली की स्थापना की थी । वहाँ लालकिले में संगमरमर की आर्जेज (Arches) का निर्माण करवाया था । दिल्ली की जामा मस्जिद और आगरा में स्थित ताजमहल

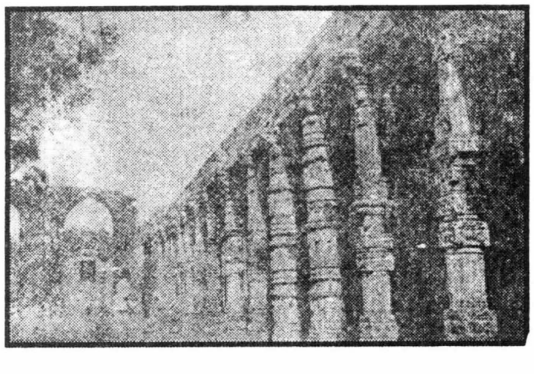

कुबत-उल-मस्जिद इलाम, दिल्ली

इसके शासन काल की सर्वाधिक प्रसिद्ध इमारतें हैं । आगरा के किले में स्थित मोती मस्जिद का निर्माण शाहजहाँ के शासन काल में करवाया गया था । ताजमहल को तो कला मर्मज्ञ विश्व का नवाँ आकर्षण कहकर पुकारते हैं । इसके निर्माण के लिए बगदाद, बुखारा, सिराज और समरकंद से कारीगर बुलवाये गये थे । ताजमहल की आंतरिक सजवाट और उससे अधिक भवन की बाह्य भाग की सजावट इतनी अधिक है कि कला मर्मज्ञ ताजमहल की आज भी भूरी-भूरी प्रशंसा करते हैं ।

औरंगजेब ने अपने शासनकाल में बहुत ही कम भवनों का निर्माण करवाया था । उसके द्वारा दक्षिण भारत के औरंगाबाद नगर में मकबरे का निर्माण अपनी पत्नी की स्मृति में करवाया गया था । उत्तर मुगल कालीन सम्राटों के शासनकाल में दक्षिण भारत में बीजापुर में गोल गुम्बज का निर्माण आदिलशाही सल्लनत मोहम्मद आदिलशाह के द्वारा करवाया गया था । इब्राहिम रौजा के शासन काल में एक विशाल मस्जिद का निर्माण करवाया गया । इस प्रकार दक्षिण भारत के सुल्तानों ने भी स्थापत्य कला के विकास में मुगल बादशाहों के साथ समानान्तर योगदान दिया था ।

कुछ निजी व्यक्तियों और राजपूत शासकों ने अपने - अपने ढ़ंग से भवनों का निर्माण करवाया । तात्पर्य यह है कि मध्यकाल के मुगल शासन काल में स्थापत्य शैली का विकास आश्रम दाताओं के संरक्षण में हुआ था । लेकिन अब अट्ठारवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में अराजकता और अव्यवस्था फैल गयी तो उस समय नये भवनों का निर्माण तो अलग बात रही, पुराने भवनों का जीर्णोद्वार भी सम्भव नहीं हो सका । अतएव सोलहवीं शताब्दी के बाद राजपूत राजाओं और प्रान्तीय सूबेदारों ने अपने - अपने ढ़ंग से नये भवनों का निर्माण करवाया था । इस क्रम में आमेर, जोधपुर, बूँदी, बीकानेर व उदयपुर शासकों के काल में जो भवन निर्मित किये गये, वे मुगल राजपूत शैली के अद्वितीय उदाहरण हैं । अवध के नवाबों ने भी मकबरों के अलावा, जन उपयोगी भवनों का निर्माण करवाया था । इसमें लखनऊ शहर में स्थित इमामबाड़ो का उल्लेख करना प्रासांगिक हैं ।

मुगल साम्राज्य के पतन के बाद प्लासी और बक्सर के युद्धों के विजेता ने राजनैतिक रिक्तता की पूर्ति करना प्रारम्भ कर दिया था । तब एक नयी प्रकार की वास्तु शैली का उद्भव और विकास हुआ था ।

19.2.4 अंग्रेजों ने भारत में अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने के साथ-साथ पहले कोठियों का निर्माण करवाया था । इन कोठियों में आवास भवनों का निर्माण भी करवाया गया था । आवश्यकतानुसार आवासीय भवनों का निर्माण करवाते समय शौचालय और स्नानघरों के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया गया था । यह शैली अंग्रेज लोग अपने साथ इंग्लैण्ड से लाये थे । इससे पहले अंग्रेजों ने कलकत्ता नगर पर अधिकार स्थापित किया । उस समय इस नगर में जो भवन बनवाये गये, वे क्लासिकल एण्ड गौथिक मोटिफ्सशैली पर आधारित थे । कलकत्ता में स्थित हाईकोर्ट भवन का निर्माण इस शैली में करवाया गया था । अंग्रेजों ने नगर बसाते समय सवाई जयसिंह के काल की वास्तुशैली से प्रेरणा प्राप्त की होगी । योजनाबद्ध ढ़ंग से नगरों का नक्शा तैयार करके वहा जिन भवनों का निर्माण करवाया गया वह भारतीय शिल्पशास्त्र तथा योरोपियन स्थापत्य शैली के सम्मिश्रण का परिणाम थे । ज्यादातर आयताकार भवनों का निर्माण करवाया गया । भवनों में चारों दिशाओं में द्वार बनाये जाते थे । छतें बहुत ऊँची रखी जाती थी । वह शैली भारतीय स्थापत्य शैली से भिन्न हैं । भवनों के सामने अहाते, बाग -बगीचे लगवाना और उनको आकर्षक ढ़ंग से सजाना, ब्रिटिश स्थापत्य शैली की विशेषता है । भवनों में रोशनदान और खिड़कियाँ का निर्माण भी ब्रिटिश कालीन स्थापत्य शैली की विशेषता है ।

उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों के द्वारा कलकत्ता के अलावा, लखनऊ, बनारस, आगरा व दिल्ली में भी भवनों का निर्माण करवाया गया था । कलकत्ता का विक्टोरिया मेमोरियल हॉल और बम्बई का प्रिंस ऑफ व्हेल्स म्यूजियम इस काल की सर्वाधिक सुन्दर इमारतें हैं । आधुनिक काल में इंजीनियरों तथा नगर नियोजकों का महत्व बढ गया है । अतएव स्थापत्य शैली की भारतीयता में योरोपियन शैली का तीव्र गति से समावेश प्रारम्भ हो गया था ।

अंग्रेजी शासनकाल में जन उपयोगी भवनों का निर्माण करवाया गया था । स्कूल, कॉलेज और विश्व विद्यालय के भवनों के अतिरिक्त चिकित्सालयों का निर्माण भी विशाल पैमाने पर करवाया गया था । 1911 में जब नयी दिल्ली के निर्माण की प्रक्रिया का समापन हुआ था, तब सवाई जयसिंह के दारा निमित जंतर-मंतर को यथावत बनाये रखने का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया था । ब्रिटिश काल में ही बनारस में अधिकांश घाटों का जीर्णोद्वार और निर्माण करवाया गया था । अंग्रेजी शासन काल में भवनों की विशालता पर महत्व दिया गया । बीकानेर तथा अन्य राजपूत राज्यों के शासकों ने नई दिल्ली के निर्माण के साथ-साथ अपने - अपने आवासीय भवनों के निर्माण नई दिल्ली में करवाया था । नयी दिल्ली का आधुनिक वास्तु शैली का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक राष्ट्रपति भवन है जो वायसराय और गवर्नर जनरल के निवास के लिए बनवाया गया था ।

नयी दिल्ली के अलावा आधुनिक काल में मैसूर के महाराजा का राजप्रसाद, बम्बई का ईरोज थियेटर भी उल्लेखनीय भवन है । आधुनिक काल में दीवारों को कम मोटा बनाने और एक दूसरे से स्वतन्त्र चपटी छतें और दीवारों पर शिल्प शास्त्रियों के द्वारा आकृतियाँ को बनाये जाना (आधुनिक काल की) स्थापत्य शैली की विशेषता है।

34.6 स्थापत्य की विभिन्न शैलियों पर प्रकाश

इस दृष्टि से धार्मिक शैलियों विशेषकर मन्दिर शैलियों का उल्लेख करना आवश्यक होगा । शैलियाँ साधारणत: तीन है नागर, वेसर और द्राविड़ । इसमें सर्वप्रथम नागर शब्द नगर से बना है । नागर चौपहला या वर्गाकार होता है, आधार से शिखर तक । इसके मुख्य लक्षण इस प्रकार के बतलाये जाते हैं -ऊँचाई में यह अष्टवर्ग होता है । ये आणों वर्ग (भाग) है, मूल (आधार) मसरक नींव और दीवारों के बीच का भाग, जंघा (दीवारें) कपोत (कोर्निसा) । ये चारों सीधे खड़े रहकर शिखर, गल, वर्तुलाकार आमल सारक (आमलक) और कुंभ (शूल सहित कलश) का भार धारण करते हैं । नागर शैली के मन्दिरों का भौगोलिक विस्तार बड़ा है । परन्तु मुख्यत: यह शैली हिमालय से विन्ध्याचल के मध्य क्षेत्र में विकसित हुई है । ऐसा भी माना जाता है कि इसकी बाहरी या दक्षिणी सीमा तुंगभद्रा नदी है । यह शैली विस्तृत क्षेत्र में फैल जाने के कारण कई प्रान्तीय नामों से भी जानी गयी है । जैसे, उड़ीसा में कलिंग व गुजरात में लाट शैली के नाम से जानी गयी । पर्वतीय क्षेत्र में यह पर्वतीय शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई ।

द्वितीय द्राविड़ शैली भौगोलिक पृष्ठभूमि में विकसित हुई है अर्थात् उस संभाग की शैली जिसे द्राविड़ क्षेत्र कहा जाता है । द्राविड़ शैली के मन्दिरों के लक्षण इस प्रकार हैं कि इनका आधार व नीचला भाग तो वर्गाकार होता है लेकिन मस्तिष्क गुम्बदाकार, छह पहला या आठ पहला (षड्यन्त्र अथवा अष्टास्त्र) इसका क्षेत्र दक्षिणी महाराष्ट्र से लेकर कुमारी अंतरीप तक है अर्थात् मध्य सुदूर दक्षिण का

भाग इसमें सम्मिलित है । द्राविड़ शैली के मन्दिर नागर मन्दिरों से सर्वथा भिन्न होते हैं । उसके गर्भ गृह (जिसमें देव प्रतिमा स्थापित होती है) के ऊपर का भाग (विमान) सीधा पिरामिड नुमा होता है । उसमें कितनी ही मंजिलें होती है और मस्तक पीछे या गुम्बद के आकार का होता है । ऊँचा मन्दिर लम्बे चौड़े प्रांगण से घिरा होता है । जिसमें छोटे- बड़े अनेक मन्दिर, कमरे, हाल, तालाब, स्वागत गृह आदि होते हैं । आँगन का मुख्य द्वार जिसे 'गोपुरम' कहते हैं, कई बार इस ऊँचाई तक का होता है कि वह प्रधान मन्दिर के शिखर तक को छिपा लेता है । इसके विपरीत नागर शैली के मन्दिर चौंकोने गर्भ गृह के उपर दूर ऊँचे मीनार की भाँति चले जाते हैं, उनके शिखर की रेखाएँ तिरछी और चोटी की ओर झुकी होती है । शीर्ष उनका आमलक (आँवला) से मंडित होता है ।

वेसर शैली नागर एवं द्राविड़ शैलियों का मिश्रित रूप है । वेसर नाम भी भौगोलिक नहीं, मिश्रित शैली का है । इस शब्द का अर्थ ही ' खबर' होता है अर्थात् दो भिन्न जातियों से जन्मा । विन्यास (खाका, योजना) में यह द्राविड़ शैली का होता है और क्रिया अथवा रूप में नागर शैली का । इस शैली का दूसरा नाम 'मिश्रक शैली' है । इस शैली का मुख्य केन्द्र नासिक व उत्तरी महाराष्ट्र व उसके आस पड़ौस के क्षेत्र रहे हैं अर्थात् यह मुगल काल का (दक्कन) क्षेत्र है । बरार क्षेत्र में यह शैली ' वाराट' या 'वाराड़' के नाम से जानी जाती है । यहीं नागर, द्राविड़ या वेसर शैली का भौगोलिक संदर्भ में उल्लेख केवल इसकी प्रचुरता के अर्थ में है अन्यथा हमें दक्षिण में नागर शैली एवं उत्तर में द्राविड़ शैली के कई मन्दिर मिलते हैं । खैर! बेसर शैली चालुक्य काल में बहुत प्रगति में रही इसकारण उसे चालुक्य शैली भी कहते हैं । यद्यपि होयसाल मन्दिरों की भी यह शैली होने के कारण मात्र चालुक्य शैली कहना प्रासांगिक नहीं है । वैसर शैली के श्रेष्ठ उदाहरण मैसूर राज्य में हलेबिद और बैलूर में है । इस शैली के मन्दिरों का आधार ऋद्ध चित्रार्द्धो से उगमा रहता है । उसके अनेक पहल होते हैं, रूप उसका तारा सा होता है । उसका विमान शिखर छोटा और फैले कलश से मंडित होता है । मैसूर में नुग्गेहल्ली का विष्णु मन्दिर, सोमनाथपुर, बैलूर व हलेबिद के मन्दिर इसके सर्वोच उदाहरण है । मैसूर के मन्दिरों की एक विशेषता यह है कि उनकी अलंकार मूर्तियों के निर्माता-कारकों के नाम अनेक नीचे लिखे हुए हैं जिससे उनके कलाकारों का पता चल जाता है ।

34.7 स्थापत्य के महत्वपूर्ण स्मारक (स्तूप, चैत्य एवं विहार)

34.7.1 स्तूप-स्थापत्य के ऐतिहासिक स्मारकों में स्तूप, चैत्य और विहार के नाम उल्लेखनीय है । उसमें स्तूप एवं चैत्य के निर्माण के उद्देश्य प्राय: एक से है । दोनों ही अति प्राचीन काल से मृत्यु एवं शव समाधि से सम्पर्क रखते रहे हैं, लेकिन कालान्तर में उनके उद्देश्यों मे अन्तर आने लगा । उदाहरणार्थ स्तूप केवल मृत्यु सम्बन्धित रहे हैं और उनका निर्माण शव अथवा मृतक की अस्थियाँ रखने में ही होता रहा है । स्तूप अपने उद्देश्य के विचार से मिस्त्री पिरापिंडों से और ठोस बनावट के रूप में बाबुली जग्गुरत से बहुत मिलते हैं । कोई आश्चर्य नहीं कि इन देशों के कारीगरों का प्रभाव भी भारत में पड़ा हो । यह महत्व की बात है कि जिस रूप में हम स्तूपों को जानते हैं, विशाल ईटों के रूप में, वे अशोक के बाद ही निर्मित हुए । इससे पूर्व भारत के प्राचीनतम स्तूप साधारणत: केवल एक प्रकार के टीले हैं । हमें यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि मौर्यकाल से पहले व काफी समय बाद भी भारत का उत्तरी-पश्चिमी भाग ईरान व मध्य एशिया की उन शक्तियों के नियन्त्रण में कई बार आया है जिनका बाबूल, मिस्त्र और असुर पर भी अधिकार रहा है । वेडसा और कुषाणकालीन स्तूप उत्तरी सीरिया के

मरथ की फिनीशी मृतक समाधियों से मिलते हैं । आज जो स्तूप हमें प्राप्त होते हैं अधिकतर बौद्ध व जैनों के हैं, विशेषकर बौद्धों के । इनमें विशेष महत्व के अनुमानत: अशोक के बनवाये सारनाथ, साँची, मरहुत के और कनिष्क के बनवाए पेशावर के स्तूप मुख्यहै । (देखिए संलग्न चित्र)

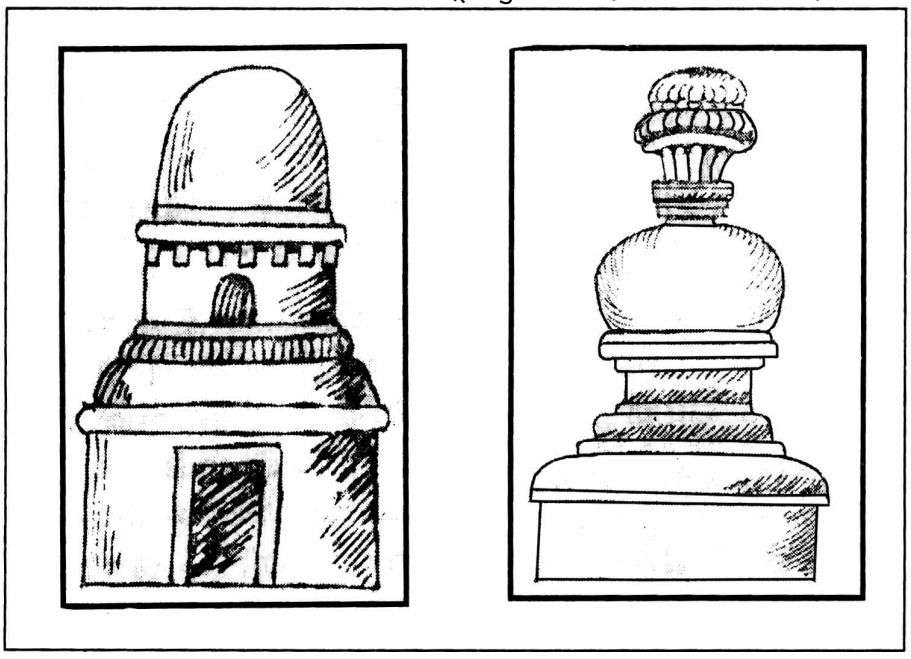

स्तूपों की आकृति साधारणत: अर्द्ध वर्तुलाकार है, ऊँची ठोस दिखती हुई । साँची के स्तूप का प्रयास में धरातल पर 121.6 फुट है, ऊँचाई 77, 1/2 फुट और उसके पत्थर की वेस्टनी (रेलिंग 11 फुट है । वैसे उत्तर भारत में स्तूप 200 से 400 फुट तक ऊँचे बताये जाते हैं । प्राचीन काल में स्तूप भीतर से खोखले या ठोस कच्ची ईंटों के बने हैं और पत्थर की रेलिंग से घिरे हुए हैं । स्तूपों के धरातल भाग को मेधि कहते हैं और मेधि पर सोपान मार्ग से चढ़ते हैं । मेधि की भूमि रेलिंग एवं स्तूप के मध्य प्रदक्षिणा भूमि का काम करती है । स्तूप के ठोस मध्यासीन भाग को अंड अथवा गर्भ कहते हैं, जो गुम्बजाकार होता है । उसके ऊपर हर्मिका होती है जिससे ऊपर निकली हुई धातुयष्टि नीचे की दिशा में अण्ड को भेदती हुई गहरी चली जाती है और ऊपर की और छत्रों का दण्ड बन जाती है । चोटी पर कलश बना होता है जिसे वर्ष स्थल कहते हैं । रेलिंग या वेदिका जो स्तूप को घेरती है के भी कई भाग होते हैं । आधार भाग ' आलम्बन' कहलाता है और रेलिंग के बीच -बीच में स्तम्भ होते हैं । स्तम्भों में सुराख होते हैं जिन्हें सूची मुख कहा जाता है । और वेदिका की शाखाएँ या बाड़ उसी में से गुजरती है । इस वेदिका में चारों दिशाओं में चार तोरण द्वार बने होते हैं । इन वेदिकाओं पर उभरी यक्ष-यक्षियों, नागराजों, देवताओं की दीर्घा कृत्तियॉ असाधारण आकर्षण की बनी है । इसके अतिरिक्त अनन्त मात्रा में नर-नारियों के वृत्तगत मस्तक, कमल आदि के प्रतीक उन पर उत्कीर्ण है । वैसे तो स्तूपों के मुख्य केन्द्र मथुरा, सारनाथ एवं अमरावती रहे हैं परन्तु पेशावर न यहीं तक कि अफगानिस्तान के क्षेत्र में भी इनका प्रचुर मात्रा में निर्माण हुआ है । शनै -शनै: ये प्रतीक रूप में पूजा के लिए रखे जाने लगे।

34.7. 2 चैत्य -चैत्य शब्द 'ची' धातु से बना है और उसका अर्थ है चयन करना, राशि करना व एक के ऊपर एक को लादना इसी से 'चित्य' बना जिसका अर्थ वेदी था । शनै: - शनै : उसका सम्बन्ध आचार्य, महान् व्यक्तियों आदि के स्मारकों से होने लगा । इसके अतिरिक्त अन्य पवित्र वस्तुओं के साथ भी इस शब्द का भाव आने लगा । आरम्भ से चैत्य का सम्बन्ध शव समाधि से रहा है । एशिया माइनर के दक्षिण समुद्र तट पर लिंडिया के पीनारा और नैन्थस में जो पाषाण मय शव समाधियाँ बनी है वे भारतीय चैत्यों से बहुत मिलती हैं । इस प्रकार स्तूप की भाँति चैत्य भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में महापुरुषों की अस्थि संचायक समाधि, गहवर, कक्ष आदि को व्यक्त करता है । परन्तु शीघ्र ही इसका अभिप्राय पूजागृह के अर्थ में होने लगा । जिसमें प्रतीक के रूप में स्तूप एवं बुद्ध की प्रतिमा आदि स्थिति होते थे । वस्तुत: बौद्ध मतावलम्बियों की सामूहिक सभा, प्रवचन व पूजन के लिए एक स्थान की आवश्यकता हुई । उस आवास को घासफूस से बनाकर फिर उस पर बैलगाड़ी की छाजन की सी छत बनाकर काम चलाया गया । यही चैत्य के स्थापना का स्वरूप बना ।

ई. पू तीसरी-चौथी शताब्दी से चैत्य गृह बनते चले गये । अनेक तो पर्वत की चट्टानों में खोदकर बनाये गये हैं । अशोक के समय के चैत्य छोटे एवं सादे हैं । अधिकतर पर्वत में बने चैत्य गोल लम्बी-ऊँची सुरंग के से होते थे । धीरे- धीरे उसका अपना विशिष्ट वास्तु विकसित होने लगा । उसमें गर्भ, दाहिने-बाएँ के स्तम्भों से विभाजित भाग आदि सभी बनने लगे । मध्य में उसके एक ठोस स्तूप होता था और वह समूचा प्रसाद या तो पर्वत की चट्टानों में काटकर बनाया जाता था अथवा लकड़ी या ईटों से निर्मित होता था । स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा भूमि होती थी । रूचिकर यह है कि चैत्यों के तीन-तीन हार बनने लगे और उसमें सामान्यत: मध्य द्वार संघ के सदस्यों के लिए होता था और शेष दोनों गृहस्थ उपासकों के लिए थे । मुख्य द्वार के ऊपर की खिड़की (वातायन) से सूर्य का प्रकाश अन्दर दूर तक चला आता था । इस खिड़की का बाहरी आकार पीपल की पत्ती सा है । अनेक बार तो यह वातायन अलंकरण मात्र रह जाता था । पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में कई सुन्दर गुफानुमा चैत्यगृह है । इनमें भाजा कोंदाने पीतलखोरा, बेडसा, नासिक, कन्हेरी के दरीगृह विशेष प्रसिद्ध है । इसके अतिरिक्त कार्ले का चैत्य तो एक आदर्श वास्तु है । ये सभी चैत्य सांची के स्तूपों के बाद के हैं । अजन्ता के दरी गृहों में 4, 9, 10, 19 और 26 जो चैत्य है, शेष भिक्षुओं के निवास के लिए विहार ।

34.7.3 विहार - विहार एक प्रकार का मत है जहाँ बौद्ध संघ निवास करता था । स्थाविर, आचार्य आदि के नेतृत्व में संघ के भिक्षु धर्म की साधना करते थे और साथ ही वहीं उनका निवास भी रहता था । विहार में रहने वालों को संघ की व्यवस्था माननी पड़ती था । संघ की शक्ति बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् बहुत बढ़ गयी थी और उसका निर्माण अनुल्लंघनीय हो गया था । प्रारम्भ में विहार चैत्य गृह के चारों ओर बने छोटे कमरों का परिवार था । इन कमरों को कुटि कहा जाता था । उन कुटियों के मध्य बने चैत्यगृह के स्तूप का निर्माण होता था अथवा सम्प्रदाय विशेष की अराधना होती थी । हीनहान विहार के चैत्यों के सामने की दीवार पर सम्प्रदाय विशेष का प्रतीक उभरा रहता था ।

ईंट पत्थर के बने प्राचीन विहार तो अब नहीं रहे पर पर्वतों को काटकर बनाये विहार आज भी देखने को मिलते हैं । सारे देश में बौद्ध विहार थे । चीनी यात्रियों ने लिखा है कि विहार कई मंजिलों (ईंट, पत्थर के) के बने हैं । विहार आवास के साथ-साथ विद्यालय का कार्य भी करते थे । हुएनत्सांग ने नालन्दा का विवरण देते हुए लिखा है कि यहीं भिक्षुओं का आवास (विहार) चार मंजिला था । संघ के मुख्य हाल के स्तम्भों पर देव मूर्तियाँ बनी थी और उसकी छत्रियों में इन्द्रधनुष के सातों रंग विद्यमान

थे । सर्वत्र अर्द्धचित्र उत्कीर्ण थे और चौखटों का सौन्दर्य अकथनीय था । प्राचीन विहारों में भाना का दरी विहार बहुत ही दर्शनीय है । इसमें बाहर एक बरामदा, उसके पीछे दो द्वारों की एक दीवार, ऊपर चैत्य वातायन । भीतर बड़ा हाल जिसके साथ भिक्षुओं की कुटियां बनी है । ऊपर का पहाड़ काटकर छत पीपानुमा कर दी गयी है । उसकी दीवारें, स्तम्भ आदि कटाव की मूर्तियों से भरे हैं और मूर्तियाँ अनुपम गति और सजीवता लिए हुए हैं। इन्द्र, सूर्य आदि के उभरे अंकन विशेष आकर्षक है ।

37.4 स्तम्भ -भारतीय स्थापत्य में 'स्तम्भ' का स्वतन्त्र या योजना के अंग के रूप में निर्माण एक अद्‌वितीय विशेषता रहा है । अशोक के बाद तो स्तम्भों में के निर्माण के अनेक उदाहरण मिलते हैं परन्तु उससे पूर्व स्तम्भ बनते थे या नहीं, विवाद का विषय है । हो सकता है कि पत्थर के स्तम्भों व उस पर अभिलेख ' खुदवाने की परम्परा अशोक के काल से अधिक लोकप्रिय हुई है । पर पड़ौसी ईरान में दोनों परम्पराएँ उसके पूर्व काल में भी थी । ऐसा माना जाता है कि ईरानियों ने यह परम्परा असुरों से सीखी थी ।

यहाँ स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में रहने वाले स्तम्भों का ही वर्णन किया गया है । सामान्यत: प्राप्त स्तम्भों को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है (1) धार्मिक (2) राजनैतिक या सामाजिक ।

भारत में यज्ञों की प्राचीन परम्परा है और यूप यज्ञ स्तम्भ का ही नाम है । जिस संख्या में यज्ञ होते थे उसी अनुपात में सूप भी बनते थे । वस्तुत: एक गाँव में यूपों की संख्या से ही उसके निवासियों के पुण्य कर्मों का आभास लिया जाता था । इसी भाँति अश्वमेघ की परम्परा भी अति प्राचीन है । ऐतिहासिक काल में भी शुंग व गुप्त शासकों ने इनको सम्पन्न किया था । इस प्रथा के बाद विजय स्तम्भ खड़ा करने की परम्परा चल पड़ी थी । इसी श्रृंखला में लाट व मीनारों को भी सम्मिलित किया जा सकता है । सम्राट अशोक ने धातु व पत्थर के अनेक ' धर्म स्तम्भ' बनाये थे । उनका सौन्दर्य शिल्प की परिस्थियों को पारकर गया था । उस पर अभिलेख खुदवाकर उस चिन्तक सम्राट ने अनेक स्वस्थ परम्पराओं को जन्म दिया था। जो स्तम्भ चुनार के पत्थर के बने हैं। उनमें कोई जोड़ नहीं है। चम्पादन (बिहार) जिले के नन्दन गढ़ वाला स्तम्भ 32 फुट 9,1/7 इंच ऊँचा मोमबत्ती की भांति गोदुमा नीचे मोटा ऊपर पतला होता है चला गया। मौर्यकाल के स्तम्भों के अधिकतर शीर्ष पशुओं की आकृति से मंडित है। जैसे, लुंबनी के स्तम्भ पर अश्व, संकिसा पर गज तथा रामपुखा के दो स्तम्भों पर एक वृषभ है तो दूसरे पर सिंह। भारत का राजकीय चिन्ह सारनाथ के स्तम्भ से लिया गया है। (देखिए संलग्न चित्र)

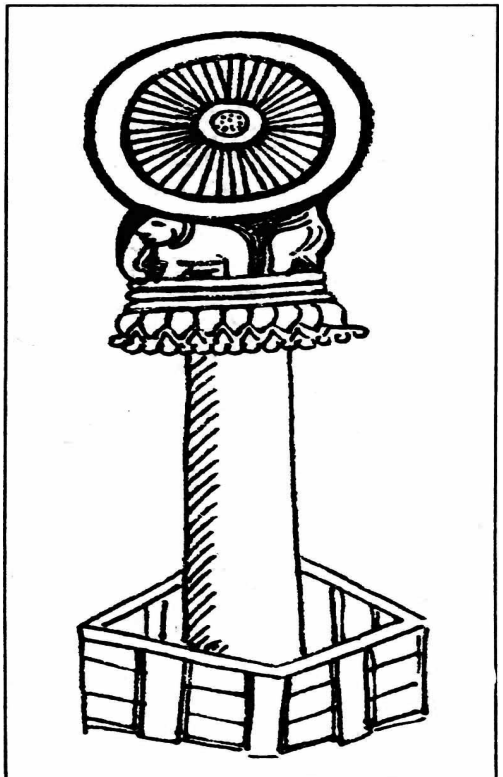

धर्म चक्र स्तंभ यष्टि दूसरी शताब्दी

भगवत शरण उपाध्याय ने लिखा है कि आश्चर्य की बात है कि अशोक के पश्चात् पहला

स्तम्भ निर्माता भी विदेशी यूनानी है । यह स्तम्भ ई. पू दूसरी शताब्दी में हेलियोदोर ने भागवत धर्म स्वीकार करने के पश्चात् वासुदेव के नाम पर गरुण-स्तम्भ खड़ा किया गया था। पर इस समय पश्चात राजनैतिक प्रभाव में अधिक स्तम्भ खड़े किये गये। गुप्त सम्राटों के अपने खड़े किये गये अनेक स्तम्भ हैं। महरौली का लोहे का गरुड़ध्वज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का माना जाता है। स्कन्दगुप्त के काल के दो स्तम्भ हैं । हूणों के विजेता मालवाके राजा यशोवर्मन का मन्दसौर स्तम्भ बहुत चर्चित है । मध्यकाल में राजस्थान के राजपूत शासकों द्वारा अपनी उपलब्धियों को स्थायी बनाने के लिये अनेक कीर्ति स्तम्भ बनाये गये है। जिनमे राणा कुम्भा का मालवा गुजरात की संयुक्त सेनाओं के हराने के पश्चात चित्तौड़ का कीर्ति स्तम्भ उल्लेखनीय है ।

मध्यकाल में मीनारों का निर्माण आम बात हो गयी थी । इन्हीं मीनारों पर चढ़कर मुअज्जीन नमाज के लिए आजान दिया करता था । मस्जिदों की मीनारों में लाहौर, अहमदाबाद व आगरा की मुख्य है । इनसे अलग विशाल दिल्ली की (महरौली) कुतुब मीनार है, जो लगभग 250 फुट ऊँची थी । सारे मुस्लिम जगत में सुल्लान इल्तुतमिश द्वारा बनायी गयी इस मीनार की तुलना नहीं है । सुल्लान अलाउद्दीन खिलजी भी अपनी विजयों का स्मारक बनाना चाहता था परन्तु असफल रहा ।

अन्य वास्तु से संलग्न स्तम्भों की संख्या तो अनन्त है । मंदिरों में दीप स्तम्भों के निर्माण की परम्परा सामान्य सी थी । ऐलोरा के कैलाश मन्दिर के दीप स्तम्भ असाधारण रूप से सुन्दर है । गुजरात एवं काठियावाड़ के मन्दिरों के साथ कीर्ति -स्तम्भों का निर्माण मन्दिरों के वास्तु का एक विशेष अंग बन गया था । इन सभी स्तम्भों पर बने अलंकरण तो अद्वितीय है । दक्कन के वैसर मन्दिर सहस्त्र स्तम्भों के मन्दिर कहलाते हैं । दारागल का इसी प्रकार का मन्दिर एक अनुपम उदाहरण है । इन स्तम्भों पर उभरे अभिलेखों ने भाषा व साहित्य को भी उन्नत किया है । गुप्तकाल के स्तम्भ अभिलेखों में तो काव्य संपदा लदी पड़ी है ।

34.7.5 दुर्ग -चौथी शताब्दी ई. पू भारत के पश्चिमी भाग में स्थित अनेक दुर्गों का उल्लेख सिकन्दर के इतिहासकारों ने किया है । मस्सग, संगल, मालव राज्यों के दुर्ग अपनी दुरूहता के कारण सिकन्दर की विजय में बाधक बने थे । प्राचीन भारत के शिल्प शास्त्रों में दुर्ग निर्माण की व्यवस्था पर प्रकाश डाला है । नगर के से उनके गोपर द्वार, प्राचीर, बुर्जियों, अट्टों, तोरणों आदि का सविस्तार वर्णन मिलता है । वस्तुत: दुर्ग भी नगर की भाँति ही निर्मित होता था । उसके भी चारों ओर खाई एवं प्राचीरों होती थी । पूर्व मध्यकाल के विशेष दुर्गों में स्यालकोट, गजनी, काबुल, भटनेर (भाटिया), दिल्ली, अजमेर, देवगिरी, रणथम्भौर, ग्वालियर, चित्तौड़, कालिंजर, रोहतासगढ़, विजयनगर, गोलकुण्डा आदि के नाम प्रसिद्ध है ।

शुक्रनीति में दुर्ग को राज्य का एक आवश्यक अंग माना गया है । आगे दुर्ग के विविध भेदों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि खाई, कांटों और पत्थरों से जिनके मार्ग दुर्गम बन पड़े हो उन्हें एरण दुर्ग कहते हैं । पारिख दुर्ग वह है जिसके चारों ओर खाई हो । बड़ी-बड़ी दीवारों के परकोटे के दुर्ग को पारधि दुर्ग कहते हैं । जो दुर्ग कांटेदार जंगलों से घिरा होता है वह वन दुर्ग तथा जिसके चारों ओर विशाल मरू भूमि विस्तृत हो उसे धत्व दुर्ग कहते हैं । उसी भाँति चारों ओर जल राशि होने पर जल दुर्ग तथा एकान्त की पहाड़ी पर बने दुर्ग जिसमें जल की व्यवस्था हो उसे गिरी दुर्ग की श्रेणी में रखा जाता है । जिस दुर्ग में प्रशिक्षित सैनिकों का निवास हो उसे सैन्य दुर्ग तथा वीर कबीलों या कुलों का सदैव निवास हो उसे सहाय दुर्ग कहते हैं । शुक्र नीतिकार के अनुसार परिख दुर्ग से श्रेष्ठ एरिण उससे

श्रेष्ठ परिध, उसी क्रम में वन दुर्ग, धन्व दुर्ग, जल दुर्ग एवं गिरी दुर्ग क्रमश: आते हैं । लेकिन सैन्य दुर्ग सर्वश्रेष्ठ है ।

कुछ दुर्गो के उदाहरण से हम यह समझ सकेंगे कि किस प्रकार दुर्गो की अपनी व्यूह रचना हुआ करती थी । जैसे, यादवों का देवगिरी का दुर्ग जिसे सुल्तान अलाउद्दीन ने विजित किया था, अपने चक्करदार मार्गों के कारण बहुत ही दुरूह स्थिति में आ गया था । उसमें दो चक्करदार सोपान मार्ग है और उसकी चोटी पर बड़ा तवा रखा है । दोनों ओर सोपान मार्ग बन्द करके तवे पर आग जलाकर सुरंग को भर देते थे जिससे शत्रु सेना उन मार्गों में दम घुटकर समाप्त हो जाती थी । इसी प्रकार ग्वालियर का दुर्ग एक दुर्गम पहाड़ी पर स्थित अपने आप में एक अनूठा दुर्ग है जिसके स्थापत्य की प्रशंसा बाबर ने भी की थी । राजस्थान के चित्तौड़ की अमर गाथा उसकी पहाड़ी पर स्थित शक्ति एवं दुरूहता के कारण गायी जाती रही है । रणथम्भौर का दुर्ग पहाड़ियों के घेरे में इस प्रकार स्थित है कि जब तक उसके बहुत नजदीक न जाये, दृष्टिगत ही नहीं होता है । असीरगढ़ का किला सम्राट अकबर द्वारा एक षड्यन्त्र के माध्यम से ही जीता जा सका । दक्षिण की सभी सल्तनतें, बीजापुर, गोलकुण्डा, अहमदनगर आदि अपने दुर्गो की अजेयता के लिए प्रसिद्ध थी । खाई घिरे दुर्गों की प्रशंसा भटनेर के लिए अनेक आक्रमणरियों ने की है जिनमें सुलतान महमूद गजनी एवं अमीर तैमूर मुख्य इकाई

मुगल काल के तीन असाधारण किले हैं - आगरा, दिल्ली एवं इलाहबाद । इलाहबाद का किला विशेष मजबूत एवं ऊँचा नहीं है परन्तु जल की ओर से सुरक्षित है । अकबर के काल के बाद ढलवा जमीन पर किले बनाने की परम्परा बढ़ गयी थी जिसके चारों ओर ऊँची जमीन होने के कारण तोपखानों की विशेष सीधी मार नहीं पड़ सख्ती थी । दिल्ली का लाल किला एक ओर नदी से सुरक्षित होने के साथ-साथ नदीं की ढलवा घाटी में बना होने का श्रेस उदाहरण है । राजस्थान में इसी काल में बीकानेर का किला (जूनागढ़) भी इसी श्रेणी में है । मुगलों के किले कला भाव से भी निर्मित थे।

अकबर, जहाँगीर व शाहजहाँ ने आगरा, फतेहपुर सीकरी, दिल्ली व अजमेर में जो निर्माण कार्य कराये वे शिल्प के विशिष्ट उदाहरण है । जिनका विवरण हम आगे चलकर देंगे । फतेहपुर सीकरी में तो अकबर ने नगर-निर्माण की कला को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया था । राजस्थान की भाँतिमहाराष्ट्र के किले भी अपनी अजेयता व दुरूहता के लिए विख्यात रहे हैं । बल्कि शक्तिशाली मुगल साम्राज्य के सम्मुख मराठा राज्य की स्थापना इन्हीं किलों की क्षमता पर हुई । शिवाजी की राजधानी भी रायगढ़ के दुरूह दुर्ग में स्थापित की गयी थी । इसके अतिरिक्त पुरन्दरे, सिंहगढ़ आदि मुख्य दुर्ग थे ।

34.7.6 राज प्रसाद - राज प्रसादों का सर्वप्रथम ऐतिहासिक विवरण मौर्यकाल का मिलता है । कुच्महार के भग्नावशेष और मैगास्थनीज के विवरणों से चन्द्रगुप्त के महलों की जानकारी मिलती है । मैगास्थनीज अपनी 'इण्डिका' में लिखते है कि सम्राट का महल लम्बे चौड़े पार्क में खड़ा था जिसमें अनेक सुन्दर तालाब थे । उस महल की भव्यता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है इसके खंभों पर चाँदी की कटी बेलों पर सोने के पक्षी बैठे थे । वह राजप्रासाद सूसा एवं एक बताना की तुलना में शालीन व भव्य था । बाद में यह महल अशोक के महलों के नाम से जाना जाने लगा व चीनी यात्री फाहयान को इसे देखकर लगा था कि इसे मनुष्यों ने नहीं देवों ने बनाया होगा । 7वीं शताब्दी में एक लगभग 1000 वर्ष के जीवन को भोगने के पश्चात् यह अद्वितीय राजप्रासाद जलकर भस्म हो गया।

राजप्रासाद सामान्यत: दो भागों में विभक्त होते थे । भीतर का भाग अन्तःपुर जिसमें शयनागृह आदि होते थे तथा बाहरी भाग में समासंदो सन्यासियों, नागरिकों व अतिथियों से मिलने के लिए अग्रिगृह होते, सभागृह, न्यायगृह, कारागृह एवं आँगन आदि होते थे । महल के चारों ओर अथवा मुख्यद्वार के समीप या पीछे उद्यान हुआ करता था । महल के एक भाग में पशुओं का संग्रहालय, तालाब, बावड़ी आदि होते थे । महल कई मंजिलें भी हुआ करते थे । महलों की डिजायन के अनुसार उनके नाम जैसे विमान प्रतिच्छन्द, मणिहर्म्य, मेघ प्रतिच्छन्द, देवच्छन्दक आदि हुआ करते थे । संभवत ऊँचाई के अनुमान से इस प्रकार के नाम रखे जाते थे । मणिहर्म्य का उल्लेख संगमरमर के पत्थरों के उल्लेख में आया है । पुराणों में समुद्रगृह का उल्लेख आया है जिसका तात्पर्य सम्भवत: ग्रीष्मकालीन प्रसादों के अर्थ में है ।

राजप्रासादों से भिन्न अन्य भवनों या अट्टालिकाओं को सौध, हर्म्य आदि कहा है । सौध संज्ञा पलस्तर एवं चूना किये हुए प्रसादों की थी । नगर, राजप्रासादों, भवनों एवं सार्वजनिक आवासों के द्वार तोरणों से मंडित होते थे । शुंग एवं कुषाण काल में तोरणों के दोनों ओर हाथी आदि पर चढ़ी नारी मूर्तियाँ का अलंकरण होता था । ऊपर के कमरों को तल्प कहा जाता था । प्राचीन प्रसादों में वातायनों (खिड़कियों) के अनेक नाम थे, जैसे आलोक मार्ग, जाल मार्ग, गवाक्ष आदि अनेक नाम थे । पहले राजप्रासाद ईट आदि के बना करते थे । परन्तु मध्ययुग के मध्य से पत्थरों का प्रयोग अधिक होने लगा । ये महल आज भी अपनी भव्यता व सौन्दर्य का बखान करने के लिए जीवित है । ग्वालियर का गूजरी महल की ऊँची बुर्जियाँ, वीरसिंह देव के दातिया व ओरहा के महल, आमेर (जयपुर) के दरबार 9 शीश महल, जोधपुर का मेहरानगढ, बूँदी के पीले पत्थर के महल, बीकानेर का स्वर्णिम अनूप महल, जयपुर का हवामहल, उदयपुर का चिना महल, अमर व करन विलास तथा जगमंदिर, आगरा से जहाँगीर के महल, फतेहपुर सीकरी में पंच महल व बीरबल महल आदि

आज भी चौंकाने के लिए पर्याप्त वास्तु सम्पदा रखते हैं । विश्व के आश्चर्यों में से एक आगरा के ताजमहल के बारे में कहा जाता है कि उसके निर्माण, सजावट व उद्यान लगाने के लिए, शिराज, समरकन्द, तुर्की, बुखारा, दिल्ली, मुलतान व काश्मीर से विशेषज्ञ बुलाये गये थे ।

16वीं शताब्दी से पुर्तगालियों ने यूरोपीय स्थापत्य का विधिवत प्रवेश भारत में चर्च निर्माण की श्रृंखला द्वारा कर दिया था । 18वीं शताब्दी से गोथे की नयी शैली भारत के स्थापत्य में घर करने लगी । नुकीली छत के चर्च तो जगह-जगह बनने लगे । तत्पश्चात् अदालते, डाकघरों, रेलवे स्टेशनों, कला दीर्घाओं में विक्टोरिया काल की गोथे शैली छाने लगी । पर साथ ही मध्यकालीन गुम्बन व छतरियाँ भी इसके मध्य अपनी शोभा पाने लगी । भारतीय रियासतों के शासकों ने भी अपने महलों व सार्वजनिक भवनों में इस शैली को अपनाना शुरू कर दिया ।

34.7.7 वापी, तड़ाग, दीर्घिका,कूप आदि

भगवत शरण उपाध्याय ने लिखा है कि भारतीयों में प्राचीनकाल से ही कुएँ, बावड़ी व तालाब निर्माण को पुण्य कार्य समझा जाता था । शासक भी नहरे व बाँध का निर्माण कराते थे । अशोक के समय गिरनार पर्वत पर एक सुन्दर झील का निर्माण सिंचाई के लिए किया गया था । राजाओं में तथा उनके परिवार के सदस्यों में तालाब खुदवाने का बड़ा रिवाज रहा है इसी प्रकार साधारण गृहस्थ भी

तालाब, वापी, कूप आदि खुदवाते थे । झीले व बन्ध की परम्पराएँ परवर्ती काल में भी चलती रही । भोपाल, हैदराबाद व उदयपुर झीलों के शहर के रूप में विख्यात हुए । मेवाड़ में राजसमन्द व जयसमन्द झीलें उस काल में सिंचाई का बहुत बड़ा साधन बनी । रेगिस्तान में तालाब खुदवाना एक बहुत ही पुण्य कार्य समझा जाता था ।

34.8 इकाई सारांश

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि युग-युगीन काल में स्थापत्य कला के उद्भव और विकास की समाज के लिए महती उपयोगिता रही है । प्रारम्भ में उन भवनों का निर्माण कराया गया था जो मानव जीवन की सुरक्षा के लिए आवश्यक थे । गढ़, गढ़ियाँ, परकोटे और खाइयॉ निर्माण की परम्परा जो वैदिक काल में प्रारम्भ हो गयी थी, ये कालान्तर में मौर्य, गुप्त काल, राजपूत काल और मध्य काल में विकसित होती रही । आधुनिक काल में दिल्ली के वाइसराय भवन को छोड़कर अन्यत्र भवनों को उन आदर्शों पर नहीं बनाये गये थे कि जिनका उद्भव और विकास भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना से पूर्व हुआ था ।

शिल्पकारों और कुशल कारीगरों की कलाकृतियों ने भारतीय स्थापत्य कला को देश विदेश में प्रसिद्धि प्राप्त करायी । ताज महल को विश्व का नवाँ आकर्षण कहने वाले कला मर्मज्ञों का कथन इसका प्रमाण है । भारतीय स्थापत्य कला में अलंकरण, सहमति (सीमेटरी) और सादगी के साथ भव्यता को महत्व दिया गया था । समय के साथ साथ ही सिद्धान्तों में परिवर्तन आता गया, जो सिद्धान्त पूर्व मध्य काल के सुप्रसिद्ध भारतीय शिल्पकार मंडल को निर्धारित किये थे, उनका अनुसरण परवर्ती शिल्पी करते रहे ।

भारतीय स्थापत्य कला को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि युग-युगान्तर में भारत की आर्थिक समृद्धि, राजनैतिक शांति और व्यवस्था किस प्रकार की रही । राजस्थानी गाथाओं में सही कहा गया है कि मनुष्य अपने नाम को चिरस्थायी बनाने के लिये या तो भव्य भवनों का निर्माण करवाता था, अथवा ऐसे साहित्य की रचना करता था, जिससे उसे चिरस्थाई ख्याति प्राप्त हो सके । भारतीय भवनों को, स्मारकों को और उनके खण्डहरों को देखने पर ऐतिहासिक रिक्तताओं की पूर्ति होती है । अन्यथा 5, 000 वर्ष के भारतीय स्थापत्य कला के क्रमिक विकास की जानकारी प्राप्त करना कठिन था । सिन्धु घाटी सभ्यता के उत्खननों से पूर्व भारत की प्राचीनतम सभ्यता ऋग्वैदिक काल को ही माना जाता था । विभिन्न उत्खननों के पश्चात यह प्रमाणित हो गया कि सिन्धु घाटी सभ्यता का क्षेत्र सिन्ध और पंजाब तक ही सीमित नहीं थी । उसके अवशेष हमें आधुनिक मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश में भी मिले हैं । इस प्रकार स्थापत्य कला के अध्ययन से छात्रों एवं सामान्य पाठकों को भारतीय वास्तुकला के विकास की उपयोगी जानकारी प्राप्त होती है ।

34.9 अभ्यासार्थ प्रश्न-

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए-

1. सिन्धु घाटी सभ्यता में नगर-नियोजन किस प्रकार का था?
2. प्रदक्षिणा व गुम्बद से आप क्या समझते हैं?
3. "इनल" का प्रयोग मध्यकाल में सर्वप्रथम किस शासक द्वारा एवं किन भवनों में किया गया?

4. स्तूप स्मारकों की क्या मुख्य विशेषता है?

(आ)निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिए -

1. प्राचीन काल में राज प्रसादों की कला के विकास की स्थिति समझाइये ।
2. स्तम्भ स्थापत्य की क्या मुख्य विशेषता है?
3. मुगल शासकों के अन्तर्गत स्थापत्य ने किन ऊँचाइयों को छुआ?
4. ब्रिटिशकाल में भारतीय स्थापत्य में किस प्रकार के परिवर्तन आये? उदाहरण देकर समझाइये ।

34.10 प्रासांगिक पठनीय ग्रन्थ

द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल : भारतीय स्थापत्य

भगवत शरण उपाध्याय : भारतीय कला की भूमिका

महेशचन्द्र जोशी : युग-युगीन भारतीय कला

रामनाथ : मध्यकालीन भारतीय कलाएँ

ई.बी. हेवैल : एन्शियण्ट एण्ड मिडीवल आर्किटेक्चर ऑफ इण्डिया

पर्सी ब्राउन : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन आर्किटेक्चर

इकाई 35 : "चित्रकला (भारतीय सांस्कृतिक इतिहास एवं परंपरा के संदर्भ में)"

इकाई संरचना

35.1 उद्देश्य
35.2 प्रस्तावना
35.3 भारतीय चित्रकला की भाव भूमि
35.4 अजन्ता चित्रकला
35.5 अपभ्रंश शैली
35.6 पाल शैली
35.7 सल्लनतकालीन शैली
35.8 मुगल शैली
35.9 राजपूत शैली
35.10 पहाड़ी शैली
35.11 कम्पनी शैली या आधुनिक शैली
35.12 इकाई सारांश
35.13 अभ्यासार्थ प्रश्न
35.14 प्रासांगिक पठनीय ग्रन्थ

35.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप यह समझ पायेंगे कि चित्रकला भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है । कला न केवल संस्कृति का माध्य है वरन् यह तो उसका आवश्यक अंग है । अतएव भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक अध्ययन एवं उसके समुचित ज्ञान के लिए इस कला का अध्ययन आवश्यक है । भारतीय चित्रकला के ऐतिहासिक विषय प्रमुखत: धार्मिक है और वे आध्यात्मिक साधना का उत्कृष्ट दिग्दर्शन कराते हैं । चित्रकला द्वारा हम भारत के विभिन्न प्रदेशों और विभिन्न युगों की वेशभूषा तथा आभूषणों का ज्ञान प्राप्त करते हैं ।

भारतीय चित्रकला की एक प्रमुख विशेषता उसकी अभिव्यक्ति प्रधानता है । कलाकार ने गूढ़ और गम्भीर आदर्शों और आध्यात्मिक चिन्तन के सूक्ष्म तथ्यों की अभिव्यक्ति के लिए इस कला का सहारा लिया है । इसमें रंगों का प्रयोग ऐसे किया है जिससे विचार पद्धति और अभिव्यक्ति का समन्वयात्मक प्रतिनिधित्व हो सके और दर्शक उस सामंजस्य का अनुभव कर सके ।

हमें इस विचार का भी अध्ययन करना है कि भारतीय कला में यथार्थवाद का नहीं आदर्शवाद की प्रधानता है । क्या यह सही है कि भारतवासियों को प्रकृति में सौन्दर्य तत्व की सत्ता एवं महत्ता का ज्ञान नहीं था? इसका उत्तर देते हुए कुमार स्वामी ने लिखा है कि सौन्दर्य शास्त्र एवं सौन्दर्यानुभूति के जो नियम नाटकों एवं काव्यों में लागू होते हैं, वे ललित कलाओं में भी लागू होते हैं । परन्तु रसास्वादन

एवं सौन्दर्यनुभूति में मौलिक अन्तर है । यह सभी विषय इस इकाई में विभिन्न शैलियों के विकास के अन्तर्गत समझाये गये हैं ।

35.2 प्रस्तावना

भारतीय चित्रकला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । चित्रकला सम्बन्धी उल्लेख उपनिषदों में मिलते हैं । बौद्ध ग्रन्थ विनयपिटक में जो चौथी तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व पालि में लिखा गया, राजा प्रसेनजीत के चित्रागार का वर्णन है । महाउम्मग जातक में गंगा पर बने एक महल के चित्रों का उल्लेख है । महाभारत और रामायण काल में भी महलों और मन्दिरों में चित्र बनाये जाते थे । कौटिल्य भी चित्रकला से भली-भांति परिचित थे और अपने अर्थशास्त्र में वे विभिन्न चित्रविधियों का उल्लेख करते हैं । पुराणों में ऐसे चित्र- विधानों का विस्तृत वर्णन है । विशेषकर विष्णु - धर्मोद्यर पुराण के चित्रसूत्र में चित्रकला का विशद विवेचन किया गया है । शिल्पशास्त्रों में वास्तुकला और प्रतिमा-विज्ञान के साथ-साथ ही चित्रकला का वर्णन किया जाता था ।

संस्कृत साहित्य में चित्रकला सम्बन्धी बड़े रोचक उदाहरण मिलते हैं । कालिदास अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीयम्, कुमारसम्भव, मेघदूत आदि लगभग अपने सभी ग्रन्थों में चित्रशालाओं का वर्णन करते हैं । बाण के कादम्बरी और हर्षचरित में प्रत्येक महल में भित्ति चित्रों से अलंकरण का वर्णन मिलता है -

आलेख्यगृहैरिव बहु वर्णा चित्रपत्र शकुनिशतसंभोभितै : ।

श्री हर्ष के नैषध चरित्र में चित्रकला को यही महत्व दिया गया है । भवभूति तीनों प्रकार के चित्रों का वर्णन करते हैं -पट्ट, पट् और कुड़य (भित्ति) । वास्तव में सौन्दर्य अनुभूति के क्षेत्र में चित्रकला को अन्य शिल्पों से उत्तम समझा जाता था-

"चित्रं हि सर्व शिल्हानां मुख लोकस्य व प्रियम्"

वात्सायन ने अपने कामसूत्र में चित्रकला के छः अंगों का वर्णन किया है : -

1. रूपभेद
2. प्रमाणम्
3. भाव
4. लावण्य योजनम्
5. सादृश्यम्
6. वर्णिका भंग

चित्र-सिद्धान्तों के इस सूक्ष्म विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्रकला ने प्राचीन भारत में बड़ी उन्नति कर ली थी ओर विधिवत् इस कला का शास्त्रीयकरण हो गया था । भारतीय चित्रकार वर्तना अर्थात् प्रकाश और छाया के सिद्धान्त से भली-भांति परिचित था । इसका 11 वीं शताब्दी में राजाभोज ने अपने समरांगण-सूत्रधार में वर्णन किया है । भारतीय चित्रकार रूप रेखाऐं खींचने और आकृति बनाने में सिद्धहस्त था और प्रमाण क्षय और वृद्धि के अन्य सिद्धान्तों की बारीकियां भी वह खूब समझता था ।

35.3 भारतीय चित्रकला की भावभूमि

भारतीय चित्रकला के इतिहास का सिंहावलोकन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच जाते हैं कि यद्यपि भारतीय चित्रकला मांसल, भौतिक तथा यौन सम्बन्धी चित्रों की भी अवतारणा करती है । किन्तु उसकी भावभूमि अधिदैक्कि एवं आध्यात्मिक रही है । यही कारण है कि भारतीय चित्रकला के आदर्श का पालन न कर सदा ही सोदेश्य रही है ।

भारतीय चित्रकला की सम्पदा अपूर्व है, इसमें विविधता है, प्राचीनता है । अत: विस्तृत भारत भूखण्ड की इस कला की अनेक शैलियाँ स्थानीय एवं प्रान्तीय विशेषताओं के आधार पर बनी । आज उपलब्ध विभिन्न प्रधान शैलियाँ निम्न हैं - (1) अजन्ता शैली, (2) गुजरात शैली, (3) मुगल शैली, (4) राजपूत शैली (5) कम्पनी शैली (6) वर्तमान या आधुनिक शैली ।

इन शैलियों में सर्वप्रथम प्रभावशाली एवं व्यापक शैली अजन्ता शैली है । इस शैली का उदय सहयाद्रि गुफाओं में हुआ था । गुजरात शैली अपने नाम के अनुसार पश्चिम भारत के गुजरात प्रदेश की शैली का नाम है । उसे जैन शैली भी कहते हैं । मुगल शैली भी अपने युग में देश व्यापनी थी । प्रधानत: दिल्ली, आगरा के मुगल सम्राटों के संरक्षित थी । राजपूत शैली राजस्थान, बुन्देलखण्ड, पंजाब, हिमालय से उत्पन्न होकर सम्पूर्ण भारत में फैल गई । स्थानीय विशेषताओं के आधार पर इसकी अनेक उप शैलियाँ, कलम भी बनी, जैसे पहाड़ी कलम, जम्बू, कांगड़ा आदि । मुगल एवं राजस्थानी शैलियों के समन्वय से कम्पनी शैली का उदय हुआ । वर्तमान शैली यूरोपीय प्रभाव से उत्पन्न हुई ।

चित्रभेद :

सामान्यत: चित्र दो प्रकार के होते हैं - 1 भित्ति चित्र, 2. प्रतिकृति चित्र ।

भवनों की दीवारों, गुफाओं आदि पर जो चित्र निर्मित होते हैं उन्हें भित्ति चित्र कहते हैं । प्रतिकृति चित्र वे होते हैं जिसमें एक व्यक्ति अथवा अनके व्यक्तियों की प्रतिक्रिया नकल उतारी जाती है । प्रस्तर युगीन मिर्जापुर आदि के चित्रों के अतिरिक्त प्राचीनतम चित्रों में जोगीमारा गुफा के चित्र भी हैं । यह जोगीमारा गुफा मिर्जापुर के पास रामगिरी की पहाड़ियों में है । जोगीमारा गुफा के चित्र भित्ति चित्र हैं । यह वृत्ताकार बने है जो कि एक दूसरे को लाल पीली वृत्ताकार रेखाओं में बांटते हैं । हम शैलचित्रों के बारे में पहले ही आपको विस्तृत विवरण दे चुके हैं (इकाई सं. 6) इसके अतिरिक्त हमने संगम काल की इकाई (सं. 12) में भी दक्षिण भारत की प्राचीन चित्रकला का एक परिचय दिया है ।

35.4 अजन्ता एवं बाघ चित्रकला

उत्तरी महाराष्ट्र में औरंगाबाद के समीप अजन्ता के भित्ति चित्र अपने युग की अवशिष्ट निधि हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि आठवीं शताब्दी में ये एक राष्ट्रीय आर्ट गैलरी का काम करते होंगे । अजन्ता अज्ञात कला शिल्पियों ने साधन की तल्लीनता में शाश्वत उन सार्वभौम सत्यों को आत्मसात कर उन अमिट रेखाओं में व्यक्त किया जो किसी भी काल में मिथ्या सिद्ध नहीं हो सकते हैं ।

अजन्ता में 29 गुफाएँ हैं । यह अर्ध चन्द्राकार हैं उनके नीचे क्षीणकाया नदीं बहती है । इन गुफाओं में 9, 10,19 और 26 नम्बर की गुफाएँ चैत्यगृह है । शेष भिक्षुओं के रहने के लिए बिहार है । इन गुफाओं में 8 और 12 नम्बर की गुफाएँ प्राचीन हैं और एक नम्बर की गुफा प्राचीनतम हैं । नम्बर 13 गुफा की दीवारों पर पोलीस है । सम्भवत : वह ई.पू. 200 की है । इन तीनों ही गुफाओं

में चित्र नहीं है । 6, 7 नम्बर की गुफाएँ सम्भवत: 450 ईस्वी और 700 ईस्वी मध्य की हैं । शेष परवर्ती काल की गुफाएँ हैं । सम्भवत: सबसे अर्वाचीन गुफा नम्बर 1 है । इन गुफाओं के चित्र विभिन्न काल के हैं, जो कि सम्भवत: ईस्वी पूर्व प्रथम शतक से लेकर सप्तम शतक के भी हो सकते हैं । इन गुफाओं के अधिकांश चित्र धूमिल हैं अथवा मिट गए हैं । किन्तु जो भी अवशिष्ट हैं वे चित्रकला की अनुपम सम्पत्ति है । चित्रों के विषय प्रधानत: बौद्ध धर्म सम्बन्धी है । बुद्ध के जीवन की अनेक जातक कथाओं के चित्र यहीं बने हुए हैं । अजन्ता के यह चित्र अलंकरण को दृष्टि से अनुपम है । फूल, पक्षी, गंधर्व, विद्याधर सभी यहीं सजीव रूप से दृष्टिगोचर होते हैं । इन कलाकारों की कल्पना भी मार्मिक है । गुफा नम्बर- 1 की छत पर अंकित सांडों की लड़ाई का दृश्य मार्मिक है । असाधारण है । " अजन्ता चित्रों में सौन्दर्य इतनी मात्रा में प्रवाहित है कि उसे थोड़े में व्यक्त नहीं किया जा सकता । वस्तुत: प्रत्येक चित्र व्यक्तित्व रखता है और अनुपेक्षणीय है । फिर भी पदमपाणी, बोधीसत्व, माता और राहुल, छदन्तजातक, क्रूर ब्राह्मण की कथा, शिवि जातक, गजराज की जलक्रीड़ा, कवियों का उल्लास, नन्द का पलायन आदि अनेकानेक चित्र संसार के सुन्दरतम चित्रों में स्थान रखते हैं । अजन्ता की अपनी शैली है । संसार की शैलियों में सर्वथा भिन्न अंगुलियाँ, कमल की पंखुड़ियों सी नमित होती है । नेत्र आकर्षण खिचे उर्ध निमिलीत है । दोनों अद्भुत छन्दयुक्त हैं । निःसंदेह शैली की परम्परा सौन्दर्य के मान बोध देती है । परन्तु आकृतियों की विविधता उनका जीवन से अविछिन्न सम्बन्ध, अविरल बहते जीवन में उनका सर्वदा अकृत्रिम सहज स्वाभाविक अंकन, आलौकिक संस्थान को उपस्थित करते हैं । आकृतियाँ पहचानी सी लगती है । नगरों, महलों, साधारण घरों, वनों के दृश्य जीवन को उसके सभी रूपों में प्रकट करते हैं । दृश्यों के एकांकी ओर सामूहिक अंकन में एक प्रणता है । अजन्ता के चित्रकार कितने कुशल, कितने मानवीय जीवन के प्रति कितने उदार, कितने हमदर्द थे । यह चित्र भलीभांति व्यक्त करते हैं । विराग और त्याग के इन मंदिरों में स्वस्थ जीवन का कोई अंग अछूता न रहा । राजावेगों का कोई कम्पन न रहा, जो तुलिका और वर्ण के स्पर्श से चमक न उठा हो । सोलहवीं गुफा में 'मरणासन राजकुमारी' का चित्र भी अद्‌वितीय है ।

बाघ गुफाएँ भी चित्रकला के लिए कला साहित्य में प्रसिद्ध है । मध्यप्रदेश के ग्वालियर की इन गुफाओं के चित्र भी अजन्ता शैली के ही समान है । इन गुफाओं की छतों, दीवारों और स्तम्भों की भूमि अनेक चित्रों से भरी हुई है । इन चित्रों में जीवन की सजीवता उल्लास सभी कुछ है । इन चित्रों में मानव व पशु दोनों ही अंकित है । अश्वों के मस्तकों का चित्र भी सुन्दर है । बाघ के चित्रों मे अत्र-तत्र नृत्य, वाद्‌य, गायन तथा अभिनय के भी चित्र हैं । इन चित्रों में नारियां है केवल एक पुरुष का चित्र है । निर्विवाद रूप से संसार के सुन्दरतम आलेख्यों में बाघ के चित्रों की भी गणना की जा सकती है । यद्‌यपि इन चित्रों में समय, चित्रकार का उल्लेख नहीं मिलता है तथापि विधान इनको अजन्ता शैली व गुप्तकाल के चित्र मानते हैं एवं निर्माण काल की अन्तिम सीमा षष्ठ- सप्तम शतक तक ले जाते हैं । बाघ स्थित गुफाओं के भित्ति चित्र यद्‌यपि कला शिल्प रेखा विन्यास ओर भाव व्यंजना में अजन्ता से टक्कर लेते हैं । तथापि इतना स्थायित्व लिए हुए नहीं हैं । ये चित्र अजन्ता के चित्रों की अपेक्षाकृत अधिक धर्म निरपेक्ष हैं ।

अजन्ता में भारतीय चित्रकला का चरमोत्कर्ष अंकित है । इसके पश्चात् बदली हुई परिस्थितियों के कारण कला का पतन होना आरम्भ हो गया । एलौरा में इस क्रमिक हास के समुचित प्रमाण मिलते

हैं । वहीं चित्रों में न तो वह कमतीयता है न भाव-व्यंजना की वह अद्भुत क्षमता । आकृतियों की नाक आवश्यकता से कुछ अधिक लम्बी होती जाती है और पतली निकली हुई आँख का मूल रूपेण आरम्भ हो जाता है । इनकी रेखाओं में कोणात्मक प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान है । पुरुषों के पतले वक्ष को आवश्यकता से अधिक गोल कर के आगे बढ़ा दिया जाता है । ये सभी तत्व उस मध्यकालीन भारतीय चित्रकला शैली के सूचक हैं जिसे भूल से जैन या गुजरात शैली कहा जाता है और जिसे वास्तव में अपभ्रंश नाम देना अधिक उपयुक्त होगा ।

35.5 अपभ्रंश शैली

यह शैली भारत में 11 वीं से 1 6वीं शताब्दी तक अर्थात् लगभग सम्पूर्ण काल में प्रचलित रही । इस शैली के कुछ भित्तिचित्र भी मिले हैं । किन्तु अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं । मुख्यत: ये चित्र जैन- धर्म सम्बन्धी पोथियों (पाण्डुलिपियों) में बीच -बीच में छोड़े हुए चौकोर स्थानों में बने हुए मिलते हैं । इनमें कपड़े के गहुए जैसी आकृतियाँ है जो प्राय सवाचश हैं । परली आंखे बाहर निकली हुई अधर लटकी रहती है । नाक नुकीली और आवश्यकता से अधिक लम्बी होती है । ये आकृतियाँ निर्जीव और बेडोल होती हैं । नाक नुकीली और आवश्यकता से अधिक लम्बी होती है । ये आकृतियाँ निर्जीव और बेडोल होती है । जैसे श्वेताम्बर जैन मूर्तियों में शीशे की आँखें लगा दी जाती है वैसा ही आलेखन इन चित्रों में किया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि इन आकृतियों की आँख शीशे की हैं और उन्हें चिपका दिया गया है । अंग-प्रत्यंगों का आलेखन भी स्वाभाविक नहीं है । पेट कृश और चिपका हुआ, हाथों की उंगलियों ऐसी जड़ जैसे मानों कपड़े की बत्तियाँ हों । ये आकृतियाँ प्रसंगानुसार तो अवश्य बनाई जाती थी किन्तु इनमें भावों का सर्वथा अभाव रहता था । इन चित्रों से पीले और लाल रंगों का प्रयोग अधिक हुआ है । रंगों को गहरा-गहरा लगाया गया है । पृष्ठभूमि आकृतियों के ऊपर चढ़ जाती हैं और वर्तना, क्षय-वृद्धि आदि का कोई ध्यान नहीं रखा गया है । पेड़ों का अंकन गुलदस्ते जैसा किया गया है । पशु-पक्षी, कागज के खिलौने या कपड़े के गुड्डे जैसे प्रतीत होते हैं । एक ही चित्र में कई-कई दृश्य अलग-अलग दिखाये गये हैं जो बड़े बेमेल और असंगत लगते हैं । ये प्राचीन नगर शैली का अपभ्रंश स्वरूप है और इसलिए इसे जैन या गुजरात जैसे किसी धर्म विशेष या किसी प्रान्तीय परिभाषा में न बाधकर, 'अपभ्रंश शैली' का नाम दिया गया है ।

गुजरात के पाटन नगर से भगवती सूत्र की एक प्रति 1062 ई. को प्राप्त हुई है । इसमें केवल अलंकरण किया गया है चित्र नहीं है । अनुमान है कि पोथियों को चित्रित करने की परम्परा इसके पश्चात् आरम्भ हुई । सबसे पहले चित्रित कृति ताड़ पत्र पर लिखित 'निशीध-चूर्णि' नामक पाण्डुलिपि है जो सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल में 1100 ई. में लिखी गयी थी और अब पाटन के जैन भण्डार में सुरक्षित है । इसमें बेलबूटे और पशु आकृतियाँ हैं । 13वीं शताब्दी में देवी- देवताओं के चित्रण का बाहुल्य हो गया । अब तक ये पेथियॉ ताड़ पत्र की होती थी, 14वीं शताब्दी से कागज का प्रयोग होने लगा । अपभ्रंश के सबसे प्रमाणिक उदाहरण कागज की पोथियों से मिलते हैं । गुजरात के अतिरिक्त माण्डू और जोनपुर इस शैली के अन्य प्रमुख केन्द्र थे ।

इस शैली में धीरे-धीरे आँखों को बुरी लगन वाली जड़ता कम हो जाती है और आकृतियाँ कुछ गतिमान प्रतीत होने लगती हैं । उदाहरण के लिए हाथी के पाँव उठाकर चलना उस शैली के विकास को सूचित करता है । फिर भी अजन्ता का लालित्य और सौन्दर्य इन चित्रों मे नहीं है ।

1100 से 1400 ई. के मध्य जो चित्रित ताड़पत्र-पांडुलिपियां मिलती हैं उनमें अंगमूत्र 'कथासरित्सागर', 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष-चरित' 'श्री नैमीनाथ चरित', श्रावक-प्रतिक्रमण चूर्णि' आदि मुख्य हैं । 1400 से 1500 ई. के काल में जो पांडुलिपियां की गई हैं उनमें 'कल्पसूत्र', 'कालाकाचार्य कथा' और सिद्धहेम' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं ।

गुजरात में प्राप्त सभी चित्रित कृतियाँ जैन हैं । कल्पसूत्र महावीर और अन्य जैन तीर्थकरों की जीवन कथा से सम्बन्धित है और प्रसंगानुसार ऐसे ही इसमें चित्र हैं । कालिकाचार्य-कथा एक चित्रित धार्मिक का काव्य है । कल्पसूत्र की एक चित्रित प्रति 1237 ई. की ताड़पत्र पर भी प्राप्त हुई है । यह पाटन के भण्डार में है । इन सब में ध्यान देने की बात यह है कि पृष्ठ के कथानक से चित्र का अधिक सम्बन्ध नहीं होता है । लिपिक खाली स्थान 'आलेख्य स्थान' छोड़कर आगे बढ़ जाता है और उसमें बाद में चित्रकार चित्र बनाता है ।

लिखने और चित्र बनाने के लिए कागज का प्रयोग आरम्भ होने पर जैन चित्रित-पाण्डु-लिपियों की शैली में एक नये युग का सूत्रपात हुआ । कल्पसूत्र और कालकाचार्य कथा की1 5वीं और 16 वीं शताब्दी में अनेक प्रतियाँ बनाई गयी । हिन्दी में भी कामशास्त्र पर बहुत सी चित्रित पाण्डुलिपियाँ बनीं जैसे 'रति-रहस्य' ।

इस शैली के अन्तर्गत चित्रित 'बसन्त-विलास' नामक एक कृति मिली है । इसमें कालीदास के ऋतु सहार की शैली पर बसन्त के सौन्दर्य का कविता में वर्णन है और तदनुरूप चित्र बनाये गये हैं । कुल 79 चित्र हैं । ये अन्य धार्मिक कृतियों जैसे ही हैं । बसन्त की रचना 1451 ई. में हुई ।

एक अन्य पटचित्र 1433 ई. का पाटन से प्राप्त हुआ है । यह तीस फीट लम्बा और 32 इंच चौड़ा है । इसमें जैन तीर्थों के चित्र हैं । यात्रियों के चढने उतरने, मुनियों के दृश्य आदि इसके सभी विषय धार्मिक है ।

इस काल में एक बड़ा महत्वपूर्ण परिवर्तन और होता है । 1192 मे तराइन के द्वितीय युद्ध के परिणामस्वरूप दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई । मुसलमान अपने साथ कुछ नये तत्व लाये और धीरे-धीरे देशी कलाकारों ने उन प्रेरणाओं को स्वीकार करना आरम्भ किया । 14वीं शताब्दी के आरम्भ में ही गुजरात का प्रदेश दिल्ली के अधीन हो गया । इससे सांस्कृतिक आदान-प्रदान का मार्ग खुल गया । 14वीं और 15वीं शताब्दी के अपभ्रंश शैली के चित्रों में ईरानी प्रभाव स्पष्ट दृष्टि शैली से प्रभावित वस्त्रविन्यास और साज-सज्जा भी ईरानी है ईरानी बेल-बूटों का प्रयोग किया है । अहमदाबाद प्राप्त 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रचित 'कल्पसूत्रा की यह प्रति अपभ्रंश शैली की सबसे उत्कृष्ट कृति मानी जाती है । इसके हाशियों में सुन्दर ढंग से अंकित राग-रागनियों, भिन्न- भिन्न नृत्यों और भावभंगिमाओं के चित्र बड़े प्रभावशाली हैं। इनका आलेखन सजीव और भावपूर्ण है। चुने हुए अलंकारों का प्रयोग सुरुचिपूर्ण ढंग से किया गया है । नई संस्कृति के संसर्ग का काफी प्रभाव इन चित्रों पर परिलक्षित होता है । कालिकाचार्य कथा के चित्रणों में भी यही प्रभाव देखने को मिलता है । मध्यकाल के इस चरण में कला विकास की एक नई दिशा की और उन्मुख हो गई । नये युग ने कलाकारों को नई प्रेरणा और कला को नया जीवन प्रदान किया ।

16वीं शताब्दी में इस शैली में सौन्दर्य और सजीवता आ जाती है । लगभग 1525 ई. में कृत अवधी 'लौरचन्दा' काव्य के उपलब्ध कुछ चित्रित पृष्ठों में इस शैली का क्रमिक विकास स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । आकृतियाँ गतिमान हैं । आँखें शीशे के मूर्तिमान नेत्रों जैसी नहीं वरन् सजीव हैं

अतिशय अलंकार का भी इन चित्रों में अभाव है । विषय को भावपूर्ण ढ़ंग से चित्र द्वारा प्रस्तुत करने का चित्रकार ने प्रयत्न किया है । अवधी के इन चित्रित पृष्ठों से भी यह सिद्ध हो जाता है कि अपभ्रंश शैली का प्रचलन केवल गुजरात तक ही सीमित नहीं था । सम्भवत: इसकी रचना जौनपुर में हुई जो मध्यकालीन संस्कृत का एक प्रमुख केन्द्र था और जहाँ देशी कलाकारों को संरक्षण और प्रोत्साहन मिलता था ।

मांडू से भी कल्पसूत्र आदि की कुछ चित्रित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं । वहीं से मिली 'नियामत नाना' ग्रन्थ की एक सचित्र प्रति का विशेष महत्व है । इसकी रचना 15वीं शताब्दी के अन्त में मांडू के सुल्तान गयासुद्दीन खिलजी के लिए की गई थी । इसके चित्रों में भी भारतीय और ईरानी चित्र शैलियों का सम्मिश्रण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । यह वह अवस्था है जहाँ से राजस्थानी शैली का विकास आरम्भ हो जाता है ।

वैसे काश्मीर में भी एक चित्र शैली प्रचलित थी जिसके महत्वपूर्ण उल्लेख मध्यकालीन साहित्य में मिलते हैं किन्तु इस शैली के अन्तर्गत रचित चित्र अभी उपलब्ध नहीं हुए हैं । काश्मीर निस्संदेह चित्रकला का एक अत्यन्त प्राचीन केन्द्र था । अत: इस प्रदेश में धीरे- धीरे अपनी एक विशिष्ट शैली का विकसित हो जाना स्वाभाविक था जो मूल से भिन्न तो नहीं रही होगी किन्तु जिसमें प्रादेशिक विशेषताएँ अवश्य होंगी । अकबर के चित्रकारों में अनेक काश्मीरी चित्रकारों का उल्लेख मिलता है और ऐसा लगता है कि यहीं निरन्तर चित्रकला का विकास होता रहा और चित्रकार आश्रय पाते रहे । किन्तु चित्रों के अभाव में शैली के विशिष्ट तत्वों का विवेचन सम्भव नहीं हुआ ।

35.6 पाल शैली

चित्रकला की एक अन्य शैली बिहार, बंगाल और नेपाल में मध्यकाल में प्रचलित थी । पाल राजाओं से संरक्षण में पलने के कारण इसे पाल शैली का नाम दिया गया है । यह शैली अजन्ता की परम्परा से ही निकली और अपभ्रंश के विपरीत इसमें थोड़ा बहुत मूल लालित्य बना ही रहा । इस शैली के अन्तर्गत चित्रित पोथियां 11 वीं शताब्दी के आरम्भ से मिलती हैं । अधिकांशत: ये बौद्ध धर्म सम्बन्धी अष्ट साहस्त्रिता प्रज्ञापारमिता की पौथियां हैं । यह महायान के अनुसार आठ हजार पंक्तियों का ग्रन्थ था जिसमें बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए ज्ञान की बातें कही गई थीं । स्पष्ट ही इन दार्शनिक विषयों के चित्र नहीं बनाये जा सकते थे और इन पौथियों में बने चित्रों का ग्रंथ के विषय से कोई सम्बन्ध नहीं था । थोड़ा बहुत साम्य बनाये रखने के लिए इनमें महायान बौद्ध देवी-देवताओं के, बुद्ध के जीवन सम्बन्धी और बौद्ध तीर्थ स्थलों के चित्र बनाये गये हैं । कालान्तर में प्रज्ञापारमिता और तारा आदि तांत्रिक देवियों और मन्जुश्री आदि देवताओं के चित्र बनने लगे।

इस शैली की सबसे प्राचीन प्रति 980 ई. की है । कुछ नेपाल में बनी प्रतियाँ मिली हैं । 1015 ई. की एक प्रति विशेष रूप से उल्लेखनीय है । ऐसी कृतियाँ बिहार और बंगला में 13वीं शताब्दी के बाद नहीं मिलती और परवर्ती चित्रित ग्रन्थों में अपभ्रंश का प्रभाव अधिक हो जाता है । किन्तु नेपाल में यह शैली इसके बाद भी जीवित रहती है । वहीं पोथियाँ ही नहीं पट-चित्र भी इस शैली में बनते थे । 15वीं शताब्दी के बाद वहीं भी इनका प्रचलन घट गया । तिब्बत में इसके बाद भी इस शैली का काफी प्रभाव रहा ।

पाल शैली के अन्तर्गत चित्रित पोथियाँ तालपत्रों में हैं । लम्बे ताल पत्र के एक से टुकड़े काटकर उनके बीच चित्र के लिए स्थान छोड़कर दोनों ओर मन्द लिख दिया जाता था । नागरी लिपि में बड़े

सुन्दर अक्षरों में यह लिखाई की जाती थी । बीच के खाली स्थान में सुरुचिपूर्ण रंगों में चित्र बनाये जाते थे । सुन्दर और सुडौल आकृतियाँ बनाई जाती थीं जिनमें आकर्षक बड़े ढंग से आँखों ओर अन्य अंगों प्रत्यंगों का आलेखन होता था । ये चित्र बड़े सजीव हैं ओर अजन्ता की कला का स्मरण कराते हैं । तत्कालीन अपभ्रंश के चित्रों से ये कहीं उत्कृष्ट हैं । एक ही परम्परा की दो विकास धाराओं के इस स्पष्ट अन्तर पर कुछ आश्चर्य होता है । आगे चलकर पाल शैली का पतन हो जाता है । किन्तु अपभ्रंश इरानी शैली से प्रेरणा लेकर अपना कलेवर बदल लेती है और परिणामस्वरूप राजस्थानी शैली का जन्म होता है ।

35.7 सल्तनत कालीन चित्रकला

सल्तनत चित्रकला का सबसे प्राचीन उल्लेख बेहकी (Baihaqui) के ग्रन्थ 'राजकवियों का इतिहास' में मिलता है जिससे सुल्तान महमूद के प्रसिद्ध नगर हित एवं लश्करी बाजार के भवनों एवं स्मारकों की दीवारों पर की गई चित्रकारी में आकृति चित्रों की उपस्थिति का बोध होता है । फ्रांस के पुरातत्व वेत्ताओं द्वारा हिरात व लश्करी बाजार पर की गई खोज में प्रारम्भिक चित्रों के चिन्हों का मिलना बेहकी द्वारा दी गईं साक्षी को प्रशस्त करता है । ये दोनों स्थान सुल्तान महमूद के विशाल साम्राज्य में होते हुए भी भारत की भौगोलिक सीमाओं के बाहर थे । सुल्तान महमूद के दरबारी कवि फारुकी ने सुल्तान द्वारा लाहौर के भव्य उद्यान में निर्मित आवास मंडप की दीवारों पर चित्रकला द्वारा की गई सजावट के जो संदर्भ कृत्तियों में दिये वे इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि सल्तनतकाल में हिन्दुस्तान में भी चित्र कला विद्यमान थी ।

अलाउद्दीन खिलजी के समय में भित्ति चित्र, सचित्र पाण्डुलिपियों और चित्रित कपड़ों के प्रचलन के सीधे व परोक्ष संदर्भ तत्कालीन फारसी और हिन्दी साहित्यिक कृतियों में मिलते हैं ।

हिन्दुस्तान के सबसे महत्वपूर्ण फारसी के लेखक, अमीर खुसरो की ऐतिहासिक रचना "देवल रानी खिज्र खां" में चित्रों के डिजाइन के लिए चर्बी (Perforated pounces) के प्रयोग किये जाने के संदर्भ मिलते हैं । इसी प्रकार दूसरी रचना' नह सिपिरह' (Nuh Sipihr) में अद्वितीय सुन्दरता वाले कपड़ों के जिक्र मिलते हैं । दिल्ली सल्तनत में चित्रकला के अस्तित्व, के सर्वाधिक महत्वपूर्ण उल्लेख शम्स-ए-सिराज 'अफीक' की रचना' तारीख - ए - फिरोजशाही' में मिलते हैं । रचना के उस भाग में जहाँ लेखक फिरोजशाह तुगलक द्वारा गैर मुस्लिम प्रवृत्तियों एवं आचरणों पर लगाये. प्रतिबन्धों का वर्णन करता है वहाँ यह उल्लेख है कि "यह राजाओं की प्रथा है कि वे अपनी आरामगाहों व शयन कक्षों को आकृति चित्रों की दीर्घाओं से सन्नित करते है, । "अल्लाह से डरते हुए, फिरोजशाह ने यह मनाही करादी थी कि इन दीर्घाओं में कोई भी जीवित प्राणियों के चित्र नहीं बनवायें क्योंकि यह 'शरा' के विरुद्ध था । अत: सुल्तान ने इनके स्थान पर दीर्घाओं को फूलों वाले विभिन्न पेड़ पौधों व 'बस्तान' के चित्रों से सुसज्जित करने के आदेश प्रसारित किये । जियाउद्दीन बरनी. की रचना "तारीख-ए-फिरोजशाही" में लिखा है कि सुल्तान जलालुद्दीन फिरोज खिलजी (1290 - 1296 ई.) ने कैकुबाद द्वारा प्रारम्भ किये गयें महल को पूरा किया तथा उसे चित्रों से सजाया । इसी प्रकार खान-ए-जहाँ ने फिरोजाबाद में स्थित फिरोजशाह के महल को चित्रों द्वारा सुसज्जित किया ।

बरेली के पास दरलामऊ के मौलाना दाऊद द्वारा सन् 1379 - 80 ई. में लिखित अवध के प्रसिद्ध रोमांस चंदायन में एक सुन्दर छन्द है जिसमें उपरी मंजिल के उन कमरों का वर्णन है । जिनमें

चन्दा अपनी, सखियों के साथ शयन करती थी । छिताईवाती के समान ही 'चंदायन' में भी ऐसे अंश है जिनमें उन चित्रों का वर्णन है जो ' महाभारत', 'रामायण ' प्रतिदिन के जीवन को दर्शाने वाले चित्र, शिकार दृश्य व प्रचलित लोक कथाओं की घटनों का आधार मानकर चित्रित किये गये हैं । कुल मिलकर इन दोनों काव्य ग्रन्थों में उल्लिखित चित्र आधार भूत रूप से एक से हैं । 1 6वीं सदी के आरम्भ की कुतबन द्वारा रचित एक अन्य प्रसिद्ध अवधी रचना 'मृगावत' में भी हमें इसी प्रकार के अंश मिलते हैं जिनमें चित्रों के वर्णन हैं । उदाहरणार्थ एक ऐसा ही अंश प्रस्तुत है :-

"ऊपरी मंजिल पर एक शयन कक्ष बनाया गया जिसको सुनहरी एवं लाल रंगों से सजाया गया था जिसमें रामायण की घटनाओं व रावण द्वारा पर्णकुटि से सीता के हरण के चित्र थे । यहीं पर अपनी 16 हजार गोपियों के साथ कृष्ण के चित्र तथा अंगद को चुनौती देकर लंका के अन्दर पाँव जमाने का चित्र था । इसके अतिरिक्त विचित्र कहानियों के चित्र, शेरों और काले मृगों के चित्रों की एक के बाद एक पंक्तियाँ चित्रित थी ।"

भित्ति चित्रों के अवशिष्ट उदाहरण

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुगल पूर्व काल में शयन कक्षों व चित्र दीर्घाओं के दीवारों के गोले प्लास्टर (Plaster) पर चित्रों (Frescos) का बनाना काफी सामान्य और प्रचलित बात थी । परन्तु समय के कूट प्रहार के आगे वस्तुत कुछ भी सुरक्षित नहीं बच सका है और हमारे पास बहुत कम ऐसी चित्रित सामग्री उपलब्ध है जिसके आधार पर साहित्यिक कृतियों में पाये जाने वाले उल्लेखों की सत्यता को प्रमाणित किया जा सके । अभी तक दिल्ली सल्लनत काल की चित्रकला में इक्के -दुक्के अवशेष चम्पारण (बिहार), सरहिन्द (पंजाब) तथा सीरी और बेगमपुर के बीच मखदम वाली मस्जिद के मुगलपूर्व स्मारकों में फूलपत्तियों और वनस्पतियों के चित्रों द्वारा की गई साज सजावट के रूप में ही प्राप्त हो सकते हैं ।

ग्वालियर के मानसिंह तोमर के महलों की चकाचौंध करने वाली सजावट ने बाबर और उसके पश्चात् अकबर दोनों को ही प्रभावित किया था । ग्वालियर व गुजरात ने चित्रकला की परम्परा को विकासशील स्थिति में सुरक्षित रखा होगा क्योंकि 16वीं शताब्दी के अंत में जब अकबर ने अपनी महान् चित्रशाला की स्थापना की तो इन प्रदेशों (गुजरात व ग्वालियर) के चित्रकारों को इस शाला के प्रमुख सदस्यों के रूप में कार्य करने के योग्य समझा गया था । मुगल लघु चित्रों को देखकर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि दीवारों को सजाने के लिए उस समय किस प्रकार की सजावट का प्रयोग किया जाता था । इन लघु चित्रों मे नूतन प्रयोगों में यूरोपीय आकृतियों व फारस के विषयों को चित्रित करना भी सम्मिलित था ।

चित्रित सामग्री के प्राप्त अवशेषों के अभाव का तात्पर्य यह नहीं है कि सल्तनतकाल में भित्ति चित्रों का अस्तित्व नहीं था । दरबारी एवं प्रचलित प्रमाण जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, इस तथ्य को अधिकृत रूप से प्रमाणित करते हैं कि सल्तनत काल के रूढ़िवादी एवं कट्टर वातावरण में भी चित्रकला का अस्तित्व था ।

लघु चित्र व सचित्र पाण्डुलिपियाँ

ताड़ पत्रों पर लिखित बौद्ध, जैन एवं हिन्दू धर्म ग्रन्थों के मुख एवं आन्तरिक पृष्ठों पर प्रतिमा चित्रों के रूप में चित्रकला के प्रयोग की परम्परा बहुत पुराने समय से चली आ रही थी परन्तु इसका बहुतायत के साथ प्रचलन 9वीं शताब्दी में पालवंश के राज्यकाल में ही हो पाया था । इस परम्परा को

12वीं शताब्दी में बख्तियार खिलजी के विनाशकारी आक्रमण ने उस क्षेत्र में सदा के लिए समाप्त कर जहाँ इसका जन्म हुआ था । इसके विपरीत ताड़पत्र मथ के फृठों पर प्रतिमाचित्र बनाने की परम्परा नेपाल से चलती रही यद्यपि इसका स्वरूप भिन्न हो गया था ।

माण्डू, जौनपुर देहली समूह (Mandu, Jaunpur Delhi group)

ऐसी पाण्डुलिपियां जिन पर दिनांक अंकित है वे माण्डू योगिनीपुर (दिल्ली) आगरा क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं । माण्डू से प्राप्त 4 पाण्डुलिपियों ने पथ का प्रदर्शन व प्रशस्तिकरण किया है । दुर्भाग्य से सबसे अच्छी व महत्वपूर्ण पाण्डुलिपि पर तारीख नहीं है । परन्तु इसकी पुष्पिका (Colophon) पर गयासुद्दीन खिलजी के पुत्र नासिरुद्दीन खिलजी के नाम है तथा कई लघु चित्र नासिरुद्दीन खिलजी को दर्शाते हैं । यद्यपि माण्डू जैन- लघु चित्रों के चित्रण का केन्द्र था तथापि "नियमतनामा" के चित्र एक ऐसी विकसित एवं परिमार्जित चित्र परम्परा की साक्षी देते हैं जो तत्कालीन फारसी चित्रकला से बहुत मिलती जुलती थी । रंग योजना चमकदार व चटकीली है, फल पत्तियाँ व बेलबूंटे घने तथा ताजा दिखते हैं । मानव आकृतियाँ प्राकृतिक व सुन्दर हैं । इस पाण्डुलिपि के लुघचित्रों को देखकर माण्डू दरबार में व्याप्त मस्ती व आनन्द के वातावरण का सहज ही आभास हो जाता है । इसी प्रकार की एक अन्य पाण्डुलिपि "मिफ्ता उलफजल" (शब्द कोष) में देखने को मिलती है । यह पाण्डुलिपि बिरले (rare) शब्दों का शब्द कोष है जिसे माण्डू में तैयार किया गया था । इससे बिल्कुल अलग ढंग की शैली की भी एक पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है । इसमें बोस्तां ग्रन्थ चित्र हैं । इसे 1502 ई. में हाजी महमूद नाम के चित्रकार ने माण्डू में तैयार किया था । इस पाण्डुलिपि के चित्रों और 'नियामतनामा" व मिफ्ताउल फजल के चित्रों में शैलीगत इतनी भिन्नताएँ हैं कि इस तथ्य को स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है कि ये सभी चित्र माण्डू में तथा एक ही संरक्षक के लिए तैयार किये गये थे ।

साइमन डिब्बी ने माण्डू में 1508 ई. में निर्मित एक अन्य पाण्डुलिपि के शीर्षक "अजबुस्सनाती" का उल्लेख किया है जिसका अध्ययन व परीक्षण अब्दुल्ला चगताई द्वार भी किया गया परन्तु यह पाण्डुलिपि इसके बाद दिखाई नहीं दी । राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली द्वारा हाल ही में प्राप्त की गई एक और पाण्डुलिपि, "अनवरी सूहायली" को भी इसी समूह में सम्मिलित किया जा सकता है । इस पाण्डुलिपि के लघुचित्र निम्न श्रेणी के हैं तथा इनकी शैली भी "नीमतनामा" के चित्रों को शैली से बहुत भिन्न है।

जौनपुर साहित्यिक गतिविधियों का समृद्ध एवं विकसित केन्द्र था जहाँ के शकीशासकों ने कला स्थापत्य व संगीत को समान उत्साह के साथ प्रोत्साहित किया । इस शहर को दार-उल-अमन के नाम से जाना जाता था । जौनपुर में ही कुतुबन के हुसैन शाह शकी के राज्यकाल (1458- 1459) में अपने प्रसिद्ध अवदी रोमान्स 'मृगावत' की रचना की थी ।

लौर-चंदा, चौरा-पंचाशिका समूह (Laura-Chanda, Chaura-panchasika group)-

जो परिवर्तन ऊपर वर्णित समूहों की जैन व मुस्लिम पाण्डुलिपियों के लघुचित्रों में परिलक्षित होते हैं वे आने वाली शताब्दियों में धीरे-धीरे नई कलात्मकता व एक नई शैली का रूप धारण करते चले गये । यहा धारणा पाण्डुलिपियों के प्राप्त उस समूह से स्थापित की जा सकती है जिनमें पाये जाने वाले लघुचित्र सौम्य व परिमार्जित शैली में व चटकीली रंग योजना के अनुसार चित्रित हैं । इनमें डिजाइन तथा मूलभाव (Motif) विविध प्रकार के हैं । इन विशिष्ट समूहों को लौर, चन्दा व चौर पंचशिका समूह कहा जाता है । इनमें पाण्डुलिपियों व एकल रूप से प्राप्त विविध प्रकार के फोलियो (कागज की शीट के अर्धभाग) रूप में प्राप्त चित्रों को सम्मिलित किया जाता है । इनमें चित्र सामान्य तथा सीधे सादे

हैं । इनमें नारी का वक्ष बड़ा, नासिक नुकली, आँखे बड़ी तथा मुख मण्डल चौकोर चित्रित किये गये हैं । इनमें भवनों, भूमि दृश्यों पारम्परिक पेड़ों, बेल-बूटों और पत्तियों से भरी चट्टानों या नीले आकाश की पट्टियों के चित्रण की मात्रा बहुत क्षीण है । कई एक चित्र प्रमुखतया मस्ती व आनन्द के भावों को चित्रित करते हैं जो कि 15वीं शताब्दी के धार्मिक व पूजन सम्बन्धी चित्रों में सर्वथा अनुपस्थित हैं । चरित्रों की गति स्वाभाविक एवं स्वतन्त्र है । इनकी विषय वस्तु विविध है एवं स्थापित परम्पराओं से प्रतिबन्धित नहीं है । कृष्ण गाथा, रागमाला, लोकप्रिय कहानियों (जैसे लौर, चन्दा, चौर पंचाशिका एवं मिरगावत आदि) के समान लोकप्रिय विषयों ने चित्रकार के समक्ष नूतन अभिव्यक्तियों के कई रास्ते खोल दिये । इन लघुचित्रों का राजस्थानी चित्रकला शैली के उद्भव व विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा । परन्तु यह आँकना अभी संभव नहीं हो सकता है कि मुगल चित्रकला के उद्भव व विकास में इन लघुचित्रों का क्या योगदान रहा है।

35.8 मुगल शैली

मुगल शैली वह विशिष्ट शैली है जिसमें मुख्यतः ईरानी कलम, भारतीय वातावरण में विकसित हुई । यद्यपि ईरानी शैली का प्रारम्भ भारत में ईरानी कलाकारों ने किया । तथापि भारतीय कलाकारों ने अपनी निष्ठा और लगन से स्थानीय प्रेरणा और विषयों के माध्यम से उसे एक नवीन प्रभावात्मक रूप प्रदान किया है । इस समन्वित शैली को मुगल कलम या शैली कहा गया है । अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में यह शैली सर्वदा भारतीय है । यह शैली भारतीय चित्रकला के इतिहास में विशिष्ट स्थान रखती है । अपनी सुरुचि और परिष्कार तथा कूंची के स्पर्श की कोमलता और हांसिए की कशीदाकारी से वह तत्काल पहचानी जा सकती है ।

मुगल शैली का इतिहास हुमायूँ(1555 ई.) के पुनरागमन से प्रारम्भ होता है । हुमायूँ ईरानी दरबार से जब भारत आया तो अपने साथ मीर सैयद अली और अब्दुल समद नामक दो प्रसिद्ध चित्रकारों को लाया था । यह दोनों ही ग्रन्थ चित्रण में पारंगत थे और इनकी देखरेख में भारत के अनेक चित्रकारों ने महत्वपूर्ण कार्य किए । मीर सैयद अली ने दस्ताने अमीर हम्जा को चित्रित किया । इन दोनों ही चित्रकारों ने अपने निरीक्षण में अकबर के आदेश पर फतेहपुर सीकरी के कमरों में भित्तिचित्रों का निर्माण कराया । उसके दरबार हाल और आवासों की दीवारों अनेक चित्रों से आच्छादित हैं । इन चित्रों का स्वरूप भित्ति चित्रों का तथा शैली लघुचित्रों की थी ।

मुगल शैली की चित्रकला में हिन्दू चित्रकारों का अपना महत्वपूर्ण योगदान है । इस काल में अनेक हिन्दू चित्रकार भारतीय चित्रकला को अपने भव्य चित्रों से गौरव गरिमा प्रदान कर रहे थे । अकबर के हिन्दु दरबारी चित्रकार बसावन एवं दसवन्त मुख्य कलाकार थे । अबुलफजल ने दसवन्त के सम्बन्ध में लिखा है कि वह अपने मुगल प्रधान आचार्य बन गया था । अबुलफजल ने बसावन की भी पर्याप्त प्रशंसा की है । वाकयाते बाबरी में बाईस चित्रकारों के नामों का उल्लेख किन्तु इन चित्रकारों में हिन्दू चित्रकार ही अधिक है । अबुल फजल द्वारा निर्दिष्ट 17 कलाकारों में केवल चार ही मुसलमान हैं । शेष 13 हिन्दु । आशय यही है कि मुगल शैली का विकास अकबर की उदार तथा सहिष्णु नीति के कारण हुआ है और उसके प्रधान हिन्दु चित्रकार थे ।

मुगल शैली के अधिकांश चित्रों का निर्माण काग़ज पर हुआ । इस शैली के कलाकार पहले खाका खींचकर अपने आलेख्य को रेखांकित करने के बाद चित्र निर्माण करते थे । मुग़ल शैली के सम्बन्ध में स्मिथ ने लिखा है - " ईरानी ग्रन्थ चित्रों में तो पहले खाका लाल या काली चोक से खींचकर उसमें

तत्काल रंग भर लिया जाता था । बहुमूल्यग्रन्थों के लिए बडा उलझा हुआ तरीका काम में लाया जाता था । ग्रन्थ में पृष्ठ खाली छोड़कर चित्र अलग बनाकर उसके ऊपर बाद में चिपका देते थे । पन्ने पर पहले बारीक लेप कर लिया जाता था । लेप अरबी गोंद के पानी में घुला हुआ होता था । तब उसकी चिकनी जमीन पर खाका खींचा जाता था । फिर तेल चित्रण की भाँति एक पर एक रंगों की परत डाली जाती थी । जब तक आभूषणों में हीरा-मोती और स्वर्ण का आभास करने के लिए उनके कणों का उपयोग होता था । (स्मिथ हिस्ट्री पृ. 460) यह सारी क्रिया भारतीय चित्रकार गिलहरी के बालों के ब्रुश से सम्पन्न करते थे । अनेक बार तो बारीकी केवल एक बालों के ब्रश से सम्पन्न की जाती थी । उसमें असाधारण नेत्र शक्ति और की आवश्यकता होती थी । भारतीय मुगल शैली के चित्रों में ग्रन्थ चित्रण का प्राधान्येन है । महाभारत का रज्मनामा, रामायण का अनुवाद, अकबरनामा दस्ताने हम्जा, रसिक प्रिया आदि ग्रन्थों के चित्रण हुए हैं । इस प्रकार यह युग साहित्य और चित्रकला को निकट लाने में सफल हुआ

मुगल शैली व्यक्तिवादी है । उसमें व्यक्तिचित्रण प्राकृतिक चित्रण का प्राधान्य है । अकबर और जहाँगीर के काल (1556, 1605, 1605 - 1627) मे खड़े व्यक्ति का पार्श्व चित्रण हो अधिक हुआ । क्रमश : नर-नारी के स्वाभाविक चित्रण की ओर गति हुई । मुग़ल बादशाहों ने अनेक यथार्थ और चित्रों की रचना इस काल में हुई । अकबर और उसके मित्रों के चित्र अकबर ओर उसके निकट बैठे हुए सलीम का चित्र, नारी की फरियाद सुनते हुए अकबर का चित्र इसी प्रतिकृति चित्रण के चित्र हैं ।

मुगल शैली के चित्रकारों ने पशु और पक्षियों के चित्रांकन में अपनी अनुपम कला का प्रदर्शन किया है । जहाँगीर द्वारा बनवाया गया मुर्गे का चित्र भी सुन्दर है । आज यह कलकत्ता आर्ट गेलरी में सुरक्षित है । इस क्षेत्र में मन्सूर नामक चित्रकार सर्वश्रेष्ठ था ।

शाहजहाँ के काल में चित्रकला अपने श्रेष्ठ दिनों में थी । ताज के निर्माण के साथ ही सर्वश्रेष्ठ चित्रों का सृजन भी इस काल में हुआ । इस काल की चित्रकला की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं । प्राचीन रक्तरंजित चित्रों की अपेक्षा संयत, शांत, दरबारपरक चित्रों का सृजन इस काल में हुआ ।

सुरूचि का संस्कार भी हुआ । साथ ही चटक रंगों का स्थान कोमल रंगों ने लिया । इस काल के चित्रकारों के लिए प्रिय विषय लैला मजनूं, शीरी-खुरूर, कान्ता-कामरूप और रूपमती-बाजबहादुर थे । इस काल के प्रमुख कलाकारों में चतरमल अनुप छत्र, मनोहर, मोहम्मद नादिर, समरकण्डी, मीरहासिम और मोहम्मद फकीरुल्ला खाँ थे ।

मुगल शैली के हास का जहाँ तक प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यद्यपि औरंगजेब को कला से प्रेम न था किन्तु उसके काल तक कला का ह्रास नहीं हुआ था । क्योंकि उस काल के हिन्दु राजा वास्तविक कला के संरक्षक थे । जिसके अपने - अपने चित्रकार थे । किन्तु केन्द्रीय राजधानी के छिन्न - भिन्न हो जाने के कारण अनेक चित्रकार विकर्ण हो गए । परिणामस्वरूप विभिन्न प्रान्तों में स्थानीय विशेषताओं से युक्त राजपूत शैली का उदय हुआ ।

35.9 राजपूत शैली

राजस्थान चित्रकला का अपना अस्तित्व रहा है और भारतीय चित्रकला के इतिहास में भी इसका अपना इतिहास है । राजस्थानी चित्रकला अनेक राजपूत शैलियाँ को सम्मिलित है । इन शैलियों में मेवाड़, मारवाड़, किशनगढ़, जयपुर, अलवर, बीकानेर, कोटा, बून्दी, नाथद्वारा आदि शैलियां मुख्य हैं ।

15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजस्थानी चित्रकला के इतिहास में एक नया मोड़ आया । यद्यपि गुजरात शैली का प्रभाव तो यथावत बना रहा । लेकिन अब अनुपात से बड़ी आँखों का चित्रण जो गुजरात शैली की एक मुख्य विशेषता थी, को त्याग दिया गया । अब तत्कालीन वेषभूषा दर्शायी जाने लगी । दैनिक जीवन के चित्र बनने लगे तथा भिन्न-भिन्न रंगों का प्रयोग कर चित्रों को रंग- बिरंगा बनाया जाने लगा । अब प्राकृतिक दृश्यों के चित्रांकन पर भी अधिक ध्यान दिया जाने लगा । अभी तक केवल हिन्दू तथा जैन ग्रन्थों को ही चित्रित किया जाता था परन्तु अब गैर धार्मिक ग्रन्थों को भी चित्रित करने का प्रयत्न प्रारम्भ हो गया ।

अकबर के साथ राजपूत शासकों के बढ़ते हुए सम्पर्क ने राजस्थान की चित्रकला को भी प्रभावित किया और उस पर धीरे- धीरे मुगल चित्रकला शैली का प्रभाव परिलक्षित होने लगा । 1567 ईस्वी में अकबर ने अपने दरबारी चित्रकारों मीर सैयद अली व अब्दुलसमद को हम्जानामा ग्रन्थ चित्रित करने का कार्य सौंपा । इस प्रयोजन में 1400 बड़े आकारों के कपड़ों के चित्र बनाने थे । अत: राजपूत राज्यों सहित मुगल साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों के श्रेष्ठ चित्रकारों को इस कार्य के लिए बुलाया गया । 1582 ई. में कार्य पूरा हो गया और सभी चित्रकार अपने- अपने राज्यों में वापस चले गये । लेकिन लम्बे समय तक मुगल दरबार में ईरानी चित्रकारों के निर्देशन कार्य करने से उनमें चित्रकला के नए तत्वों को ग्रहण कर लिया था जिनका प्रयोग उन्होंने अपने राज्य में बनाए जाने वाले चित्रों में किया । यद्यपि आरम्भ में उन चित्रों पर भी गुजरात शैली तथा लप्तेदी शैली की प्रधानता बनी रही परन्तु ज्यों -ज्यों राजपूत राजाओं के साथ मुगल -दरबार का सहयोग बढ़ता गया त्यों -त्यों राजस्थानी चित्रकला पर मुगल शैली का प्रभाव भी बढ़ता गया । परिणाम यह निकला कि अब गुजरात एवं लोदी शैली का प्रभाव क्षीण होने लगा और चित्रों को बनाने में मुसल तकनीकी का अधिक रूचिपूर्वक प्रयोग किया जाने लगा । मुगलकाल में राजपूत चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ विकसित हुई जिनमें प्रमुख हैं, मेवाड़ शैली, मारवाड़ शैली, किशनगढ़ शैली, बीकानेर शैली, जयपुर शैली, बूँदी, कोटा, उनियारा, अलवर, नाथद्वारा शैलियाँ इत्यादि । इन सभी विभिन्न शैलियों का विस्तृत विवरण अगले पाठ्यक्रम (राजस्थान की संस्कृति एवं परम्परा) के सम्बन्धित अध्याय में किया गया है ।

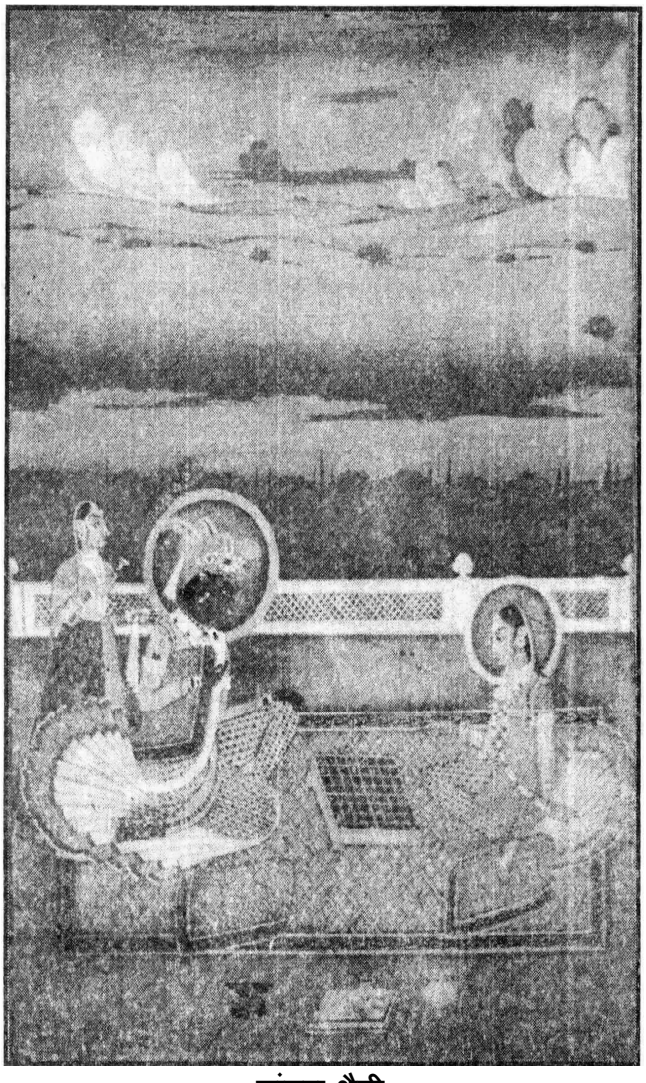

कांगड़ा शैली

35.10 पहाडी शैली

पहाड़ी शैली को कई बार राजपूत शैली के अन्तर्गत ही ले लिया जाता है परन्तु विशिष्ट भौगोलिक स्थिति में पनपी इस शैली का अलग से ही अध्ययन करना आवश्यक है । इस पहाड़ी शैली में जो मनोहरता व बाँकपन दृष्टिगत होता है वह मुगल व राजपूत (राजस्थान) कला से भिन्न है । पंजाब के मैदानों के उत्तरी व पूर्वी भागों के पहाड़ी में हिमालय की विभिन्न श्रृंखलाओं में स्थित जम्मू, जसरोटा, मानकोट, बाशोली, कांगड़ा, गुलार, चम्बा, नरपुर, बिलासपुर, गढवाली सिरमूर तथा कुल्लू इसके मुख्य केन्द्र रहे हैं । सतलज नदी के पश्चिमी पर्वतीय राज्यों की चित्रकला मुख्यत: जम्मू स्कूल के नाम से जानी जाती है । द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत सतलज नदी के सभी पूर्वी पर्वतीय राज्यों की कला का उल्लेख कांगडा स्कूल के नाम से किया जाता है । कांगड़ा स्कूल के अन्तर्गत ही गढवाल राज्य में विकसित चित्रकला को रखा जाता है । निःसंदेह पहाड़ी शैली की चित्रकला के उदय में मुगल दरबार के आश्रय विहीन हो

गये उन चितरों की प्रमुख भूमिका रही जिन्होंने विभिन्न पर्वतीय क्षेत्रों की स्थानीय रियासतों में आश्रय प्राप्त किया । हैं, इस शैली का प्राण स्त्रोत निश्चय ही राजपूत चित्रकला है ।

आनन्द कुमार स्वामी के अनुसार 17वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो में कुछ नवीनताओं को लिए हुए पंजाब की पहाड़ी रियासतों में विशेषत: डोगरा के पहाडी राज्यों में जम्मू सहित एक चित्रकला शैली विकसित हुई । यहाँ के चित्रों को उनकी शैली के अतिरिक्त उनकी ताक्री लिखावट से पहचाना चित्रों का निर्माण 18वीं शताब्दी से हुआ । कांगड़ा स्कूल अपने शासक संसारचन्द्र (1 774 - 18 23 ई.) के काल में प्राप्त होता है। कांगड़ा स्कूल के प्रिय कथानक है -कृष्णलीला, नायक-नायिका बेद तथा महाकाव्यों के प्रसिद्ध प्रसंग जैसे नव दमयन्ती कथा आदि । कांगड़ा के चित्रों को जीवन व गति देने में गुलेर और बसौली (जम्मू राज्य के कथुवा के अन्तर्गत) के कलाकारों का महत्वपूर्ण योगदान है । कांगड़ा शैली रोमांटिक है । एक विख्यात कलाविद के अनुसार, यूनान के कलश चित्रों और जापान के डिजायन चित्रों में भले ही अन्य आकर्षण, समृद्ध कल्पनाएँ, ओजस्विता और रूप वैचित्रय समाहित हो किन्तु कांगड़ा के चित्रों में मोहकता, गति और स्वातन्त्रय है । 18वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षो में एक लघु स्कूल गढ़वाल के पहाड़ी राज्य में उदित हुआ । गढ़वाल का प्रसिद्ध चित्तेरा मोलाराम था । पंजाब में चित्रकला की सिक्ख शैली का समय स्थूलत: 1775 - 1850 ई. के मध्य है । सिक्ख शैली की चित्रकला में प्राय: व्यक्ति चित्रों का प्राधान्य है । सिक्ख गुरुओं, सरदारों तथा दरबारियों के स्वतन्त्र एवं समूह चित्रों का निर्माण हुआ ।

35.11 कम्पनी शैली या आधुनिक शैली

मुगलों और यूरोपीय शैली के समिश्रण से एक नई शैली का जन्म हुआ जो कम्पनी शैली या पटना शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई । यही शैली आगे चलकर आधुनिक शैली के नाम से विख्यात हुई । 1834 ई. में मेकाले ने भारतीय लोगों को आंग्ल शिक्षा प्रणाली के अनुसार प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से उापने शिक्षा सम्बन्धी विचारों को घोषित किया जिसका भारतीय लोग कला, संस्कृति तथा सामाजिक व वैयक्तिक आचर में यूरोपियों का अंधानुकरण करने लगे । कला के क्षेत्र में विक्टोरियन नैसर्गिकतावादी कलाकृत्तियों को श्रेष्ठ माना गया । रस्किन एवं स्टोक्वेलर जैसे विदेशी कला समीक्षकों ने भारतीय कला का उपहास किया । 19वी शताब्दी में भारतीय विद्यार्थियों को यूरोपीय कला में प्रशिक्षित करने के विचार से मद्रास (1850), कलकत्ता (1884), मुंबई (1857) व लाहौर में कला विद्यालय खोले गये व उन स्थानों पर प्राथमिकता के तौर पर नैसर्गिकतावादी पद्धति से चित्रण करने वाले ब्रिटिश कलाकारों की प्रशिक्षक के रूप में नियुक्ति की गयी । ऐसे वातावरण में त्रावणकोर के प्रतिभा सम्पन्न चित्रकार राजा रवि वर्मा ने थिओडोर जेन्सन नामक चित्रकार से तेल रंगज पद्धति की शिक्षा प्राप्त करके भारतीय जीवन, व्यक्ति एवं पौराणिक विषयों के चित्र बनाये । ये चित्र नैसर्गिकतावादी शैली की दृष्टि से उत्तृष्ट है । (साखलकर, पृ. 313)

19वीं शताब्दी के अन्त से भारतीय चित्रकला में उथल-पुथल प्रारम्भ हुई और पुनरुत्थान शैली के चरण पड़े । प्रारम्भ किया ई.बी. हॅवेल और अवनींद्रनाथ टैगोर ने । दोनों ने इस बात पर बल दिया कि भारतीयों को अपनी परम्परागत शैलियों का अध्ययन करना चाहिए और उस आधार पर समकालीन विषयों का चित्रण करना चाहिए । हॅवेल ने स्पष्ट किया कि भारतीय चित्रकला ने सदैव सर्वव्यापी व शाश्वत तत्वों अपने सम्मुख आदर्श के रूप में रखा जबकि पाश्चात्य शैली भौतिक एवं नश्वर सौन्दर्य

से प्रभावित है । इस विचारधारा को बल पर्सी ब्राउन एवं कुमार स्वामी की लेखनी से मिला । 1902 में जापानी कलाकार हिसिदा एवं ताइकान कलकत्ता आये थे । जिसके परिणामस्वरूप अवनीन्द्रनाथ ने जापानी ढ़ंग की कोमल रंग संगीत को अपनाया व आकारों को सूचक रूप में अस्पष्ट अंकित करना आरम्भ किया जिससे भारतीय व जापानी शैलियों से मिश्रित एक नयी शैली बंगाली या पुनरुत्थान शैली बनी । कलकत्ता कला विद्यालय में अवनीन्द्रनाथ के आचार्य बनने के बाद वहीं के विद्यार्थियों ने जिनमें नन्दलाल बोस, देवीप्रसाद राय चौधरी, समरेन्द्रनाथ गुप्त एवं असित कुमार हलदर ने इस शैली को बहुत प्रसारित किया । वस्तुतः पुनरुत्थान शैली का उद्भव बौद्धिक विचार एवं स्वदेश प्रेम में हुआ और आलोचक यह मानते हैं कि इस शैली में स्वाभिकता नहीं है ।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कई अर्थों में भारत के प्रथम आधुनिक कलाकार बताये जाते हैं । परन्तु इस विश्व विख्यात कवि ने आयु के 67वें वर्ष तक चित्रकला की दिशा में कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया । उनका मत था कि कला का कार्यात्मकता की दृष्टि से विचार नहीं करना चाहिए, कला पूर्ण रूप से सहज ज्ञान व अन्तर्मन की क्रियाओं पर निर्भर है । लय कला की आत्मा है एवं उसकी सहजसिद्ध अनुभूति कला निर्माण की प्राथमिक आवश्यकता है । इस प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर की अति यथार्थवादी कला का आरम्भ हआ । टैगोर की कला में विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों को साकार किया गया है । 'थके हुए यात्री' 'माँ व बच्चा' 'सफेद धागे' जैसे चित्रों में मानव जीवन का व्यापक दार्शनिक विचार है। इसके आगे भारतीय कला को आधुनिक की ओर मोड देने में अमृता शेरगिल ने आरम्भिक मार्गदर्शन का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

रवि वर्मा का एक चित्र

1913 में जन्मी इस कलाकार की कृतियों में भारतीय सामान्य जन-जीवन की निष्काम समर्पित वृत्ति का दर्शन है। अमृता गोग्वं की कला के प्रति अधिक आत्मीयता रखती थी। उसने अनुभाव किया कि प्राचीन कांगड़ा व बसौली शैलियों का गोग्वं के निर्दिष्ट मार्ग से आधुनिकीकरण किया जा सकता है । भारतीय साधारण जन जीवन के उनके चित्रों में पहाड़ी स्त्रियाँ 'भारतीय माँ' 'कहानी कथन' 'बालवधु' बहुत ही प्रभावपूर्ण व प्रसिद्ध है । अमृता शेरगिला अजन्ता की चित्रशैली से भी बहुत प्रभावित हुई थी । दक्षिण भारत की यात्रा करके उन्होंने वहाँ के साधारण लोगों के जीवन को चित्रित किया । उसमें 'ब्रह्मचारी', 'वधू का श्रृंगार ' 'फूल बेचने वाले' विशेष प्रसिद्ध है । अमृता की कला में न केवल भारतीय सामान्य जनों को सरल निश्छल जीवन का एक मोहक चित्रण है बल्कि उसमें कला के मूल तत्वों का, आधुनिक कलादर्शन के अनुसार, विकास करके समकालीन भारतीय कलाकारों का मार्गदर्शन किया है।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के कलाकारों में यामिनी राय की कृतियों ने भारतीय चित्रकला को बहुत प्रभावित किया । उन्होंने संथाल कबीले की 'पट चित्रण' व कालीघाट (बंगाल) शैली के आधार पर स्पष्ट रेखा एवं चमकीले रंगों में चित्रण शुरू किया । इस मध्य रुसी निकोलस रोरिक ने कुल्लू को अपना निवास स्थान बनाकर हिमालय के प्राकृतिक सौन्दर्य पर असंख्य चित्र बनाये । उन चित्रों को हम केवल निसर्ग-चित्र नहीं कह सकते । उनमें मानव एवं प्रकृति की आन्तरिक एकात्मकता उनकी कला व जीवन दर्शन का सार है । द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति व भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् आधुनिक कला की दिशा में प्रगति करने के विचार से बम्बई (मुंबई) में रजा, आरा, सौजा, हुसैन आदि, कलकत्ता में सुभा टैगोर, गोपाल घोष, परितोष सेन आदि तथा साथ ही दिल्ली शिल्प चक्र, मद्रास प्रगतिशील कलाकार मण्डल आदि ने महत्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न की । इसके अतिरिक्त मार्ग, रूपलेखा व इलस्ट्रेटे वीकली ने लेखों व प्रतिकृतियों द्वारा आधुनिक कला के प्रसार में काफी सहायता की । ललित कला अकादमी ने 'ललित कला' व 'ललित कला कन्टेचररी' का नियतकालीक प्रकाशन करके समकालीन कलाकारों व उनकी कृतियों को उजागर किया । इसके अतिरिक्त 'बाम्बे आर्ट सोसायटी', ' आर्ट सोसायटी ऑफ इण्डिया' तथा ' ऑल इण्डिया फाइन आर्ट्स एण्ड क्राफ्टस सोसायटी' ने समकालीन कला की अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियाँ आयोजित की ।

35.12 इकाई सारांश

परम्परा से हमारा तात्पर्य उस धारणा से है जो एक बार समाज के द्वारा अपनाए जाने के बाद लगातार अपनाई जाने वाली प्रक्रिया बन जाती है और जो संस्कृति के एक निश्चित अंग के रूप में दिखलाई पड़ती है । सामाजिक अवधारणा में परम्परा को जन्म, मनुष्य अपने विभिन्न अनुभवों को स्थाई रूप देने के लिए दिया करता है । कला संस्कृति का एक अंग है और संस्कृति की अभिव्यक्ति

में परम्परा उसका एक निश्चित स्वरूप मानी गई है । परम्परा का विकास सामाजिक दर्शन और मूल्यों के सहारे होता है । प्रत्येक कला में अनुकृति के सृजन के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों में से कुछ निश्चित परम्परागत तत्व अवश्य पाए जाते हैं । इन परम्परागत तत्वों के आधार पर ही कलाकृति को समझना संभव होता है और जिनके अभाव में कलाकृति को समझना बहुत ही कठिन हो जाता है ।

परम्परा सदैव जागरूक होती है । वह वर्तमान के साथ प्राचीन का समन्वय करके ऐसे रूखों का सृजन करती है जो प्राचीन पर आधारित किन्तु वर्तमान की आवश्यकता के अनुरूप होते हैं । यही रीति से पूर्वत: भिन्न होती है । रीति में किसी प्राचीन नियम के रूढ़िबद्ध अनुकृति की जाती है । रीतिबद्ध कलाकार की सभी रचनाएँ एक ही पद्धति पर ढली होती है । उनमें कोई विकास नहीं होता । इसलिए कलाकार पहले प्राचीन कलाकृत्तियों की अनुकृति करके उनके मूल तत्वों को अपनाते हैं और उनकी प्रेरणा से नवीन कृतियों का सृजन करते हैं ।

परम्परा का अर्थ बहुत लचीला है । इसमें अंधविश्वास तथा रूढ़ियों का कोई महत्व नहीं होता । परम्परा का सम्बन्ध संस्कृत के अविच्छन रूप से हैं, जिस प्रकार शताब्दियों तक निरन्तर विचारों के मन्थन से संस्कृति का विकास होता है उसी प्रकार परम्परा भी पीढ़ी के अनुभवों का संचित बोध है । इसमें विकास तथा प्रगति का तत्व अनिवार्य है । कला में जीवन रूपों का प्रयोग किया जाता है । वे तभी दर्शकों के समझ में आते हैं जब वह पहले से प्रचलित रहे हो । इस प्रकार के रूप परम्परागत रूप कहे जाते हैं । आनन्दकुमार स्वामी का परम्परागत प्रतीकों तथा चित्रों के द्वारा कला को पहचानी जाती है । परम्परा जब रूढ़ि बन जाती है तो परिवर्तित कला का जन्म होता है । जब परम्परा के आधार पर बनाई गई अपूर्ण कृतियों को भी प्राचीन बिम्बों के अनुसार देखा जाता है और कलाकृति की कमी हो दर्शक देख नहीं पाता ।

इस प्रकार परम्परा केवल अतीत का वर्तमान है । संक्रमण नहीं है । परम्परा का अर्थ है निरन्तर परिवर्तन । हमें जो कुछ भी विरासत में प्राप्त हुआ उसमें जो कुछ भी वर्तमान के संदर्भ में श्रेष्ठ हैं वहीं ग्रहण करना चाहिए ।

अत: परम्परा का मूल्याँकन सदैव होता रहा है । यह किसी जाति में नवीन जीवनी शक्ति एवं नई उमंग भरती है । सांस्कृतिक जीवन में केवल परम्परा और निरन्तरता ही नहीं जीवन्तता का भी महत्वपूर्ण स्थान है । यह केवल शिक्षित समाजों में ही नहीं वरन् अशिक्षित ग्रामीण और आदिम समाजों में भी मौखिक रूप से चलती रही है । यही कला सृजन को नियमित करती है । परम्परा में समूह चेतना प्रतिबिम्बित रहती है, जिसमें किसी समुदाय के विश्वास छिपे रहते हैं । इन विश्वासों में से अनेक लुप्त हो जाते हैं और अनेक पुनर्जीवित किए जाते हैं । अत: कलाकार के लिए जीवित परम्परा का ही महत्व होता है । जो वर्तमान संदर्भों में से सीधा और तुरन्त समन्वय जोड़ती है । ऐसी स्थिति में अतीत और वर्तमान एक दूसरे से विलीन होकर नए अर्थों की सृष्टि करते और भविष्य का मार्ग बनाते हैं ।

रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने कहा है कि कला अतीत की जड़ता पर मंडराती हुई प्रतिभा नहीं है । यह जीवन की यात्रा से सम्बन्धित है । जो नवीनताओं आश्चर्य तथा अतीत के बीज से भविष्य के वृक्ष के हेतु प्रतिपल नवीन भावनाओं के साथ निरन्तर समायोजन करती है । इस प्रकार कला सृजनशील आत्मा की कमी नहीं कम होने वाली एक भव्यता है ।

जब हम देश की कला का नाम लेते हैं तो हमारा ध्यान सहसा उस देश की कला की प्राचीन परम्पराओं की ओर जाता है । पर देश अथवा जाति की कठोर सीमाएँ कला में बहुत उदार हो जाती

है । उदाहरण के लिए भारतीय कला में फारसी कला के तत्वों का मिश्रण । चीन तथा जापान की कलाओं पर भारतीय कला का प्रभाव पड़ा है । कलाकारों को रूढ़ियों से ही चिपके हुए नहीं रहना चाहिए बल्कि नवीन प्रयोग भी करने चाहिए । रविन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार ' 'विज्ञान निर्व्यक्तिक होता है । इसका एक ही गुण है वह है सार्वभौमिकता । " उसके द्वारा वह सूक्ष्म सिद्धान्तों में निकले रहता है । अत: कलाकार स्वतन्त्र होकर अपनी परम्परा के अतिरिक्त अन्य प्रभावों को आत्मसात करता चलता है । एक युग था जब मनुष्य अलग - अलग समाजों में बंटे हुए पृथ्वी के अलग- अलग भू- भागों में रहते थे । उनके लिए अपनी परम्पराओं का महत्व बहुत था परन्तु आज विश्व में सभी मनुष्य परस्पर निकट आ रहे हैं । अलगाव तथा विभिन्नताएँ समाप्त हो रही है । तब किसी भी स्थान के चैतन्य कला की रूढ़ियों से बन्धे हुए नहीं रह सकते । इस प्रकार परिवर्तन हो जाने के पश्चात् ही किसी देश की कला की आत्मा परम्परा के अभाव को सार रूप बनाए रखती है ।

इस प्रकार परम्परा तथा आधुनिक में कोई विरोध नहीं है । कला ऐसी आध्यात्मिक ऊर्जा पर जीवित रहती है, जिसके सहारे जीवन के निस्तेज तथा निरुत्साहित तत्वों को वह केवल न निकाल जाए बल्कि उसका कालांतरण भी कर दें ।

35.13 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए -

1. भारतीय चित्रकला की भावभूमि स्पष्ट कीजिए ।
2. क्या दिल्ली सल्तनत के काल में भी चित्रकला का विकास हुआ था?
3. पाल चित्रकला की विशेषताएँ बतलाइये ।
4. "मुगलकाल की कला दरबारी संरक्षण में विकसित हुई ।" स्पष्ट कीजिए ।

(ब) निम्न प्रश्नों के उत्तर 500 शब्दों में दीजिए -

1. संस्कृति एवं परम्परा के विकास में चित्रकला का क्या योगदान है? स्पष्ट करें ।
2. पहाड़ी चित्रकला की क्या विशेषताएँ हैं?
3. कम्पनी चित्रकला के क्या मुख्य लक्षण हैं?
4. अजन्ता चित्रकला भारतीय चित्रकला का उत्कृष्ट स्वरूप है? टिप्पणी करिये ।

35.14 प्रासांगिक पठनीय ग्रन्थ

1. डॉ. रामकिशोर सिंह एवं डॉ. उषा यादव — प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति
2. डॉ. भगवत शरण उपाध्याय : भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका।
3. डॉ. अविनाश बहादुर वर्मा : भारतीय चित्रकला का इतिहास ।
4. परसी ब्राउन : हिस्ट्री ऑफ इंडियन पेन्टिंग
5. र. वि. साखलकर : आधुनिक चित्रकला का इतिहास ।
6. सी. शिवा रामामूर्ति : इण्डियन पेटिंग ।

इकाई 36 : योग-एक सांस्कृतिक अध्ययन

इकाई संरचना

36.1 उद्देश्य

36.2 प्रस्तावना

36.3 योग का अर्थ

36.3.1 योग क्या नहीं है

36.3.2 योग क्या है

36.4 योग की नियामक क्रियाएँ

36.4.1 स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर की चेतना

36.4.2 आसन (योगासन) तथा प्राणायाम में दक्षता

36.5 योग की रूपांतरण प्रक्रिया-'मन' से

36.6 'अ-मन की गंतव्य

36.6 योग तथा भारतीय संस्कृति

36.7 सारांश (समसामयिक जीवन क्रम और योग साधना)

36.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

36.9 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

36.1 उद्देश्य

योग विषयक इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप यह समझ सकेंगे कि-

- योग का अर्थ क्या है?
- योग की प्रतिनिधि नियामक प्रक्रियाएं क्या हैं? उनकी पारस्परिक अन्तर्निभरता कैसे चरितार्थ होती है? तथा व्यक्ति पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है?
- यौगिक रूपान्तरण कब और कैसे घटित होता है?
- योग-परम्परा का भारतीय संस्कृति में क्या स्थान रहा है,?
- हमारे आज के जीवन में योग-साधना की क्या प्रासांगिकता है?

36.2 प्रस्तावना

'मानव जीवन दु:ख का विस्तार है ', 'संसार दु:ख का सागर है', 'नानक दुखिया सब संसार', 'दु:ख तो अपना साथी है '' -ये सब कुछ ऐसी पारम्परिक मान्यताएँ हैं जो हमें जन्मघूंटी की तरह पिलाई जाती हैं । हम इनके साथ बढ़ते-पनपते हैं और फिर भी ' क्षणिक सुख' की लालसा हमसे हमारे छोड़े नहीं छूट पाती । हमारी सारी जिन्दगी इसी कशमकश का शिकार है । इस नियति से कहीं कोई छुटकारा नही दिखाई देता । आखिर क्या वजह है हमारी इस कशमकश की? दु:ख का भँवर क्या है जो हमें आकण्ठ पकड़ कर तेजी से घुमा रहा है, हमें डूबोने पर उतारू है? ऐसी स्थिति में भी हम किस सुख की आस लगाए रहते हैं जो हमें सभी दु:ख झेलने को लगातार तैयार करता रहता है? ये दु:ख-सु:ख

की वास्तविकता क्या है? मानव जीवन में इन सवालों के जवाब हर युग में सभ्यताओं और सांस्कृतिक के क्रम में उठते-सुलटते रहे हैं। नए सवाल पैदा होते रहे हैं और उनका निराकरण होता आया है ताकि और नए सवाल पैदा होते रहे । जीवन प्रसंगों की यह द्वन्द्वात्मकता (डाएलेक्टिक्स) भारतीय संस्कृति व सभ्यता भी चरितार्थ करती आई है ।

भारतीय मनीषा के प्रकाश में यदि इन सवालों पर गौर किया जाए तो हमें यह पता चलता है कि सारा दुःख यह है कि जो हम नहीं हैं वहीं हम बन जाते हैं या बना दिए जाते हैं, जो हम होना चाहते हैं उसके लिए हम सारी उम्र हाथ-पैर मारते -रहते हैं और वह हम हो नहीं पाते और यह आशा कि ' हम होंगे कामयाब एक दिन' हमें वह आस दिलाती रहती है कि हम अपनी अदम्य-अराजक इच्छाओं को सतत् विस्तार देते रहे । पीढ़ी-दर-पीढ़ी यह क्रम चलता रहता है । हमारी संतति हमारी विफल महत्वाकांक्षाओं का विस्तार बन जाती है । ' पितृ-ऋण' चुकाने के क्रम में वह इसी विफलता को ढोते रहने को अभिशप्त है । अपनी जीवन-संध्या में वह यही सौगात अपनी संतति को दे जाती है । विफलता और हताशा की यह 'रिले ' दौड़ लगातार बिना रूके चलती रहती है । यही हमारा दुःख है और इससे निजात पाने की उत्कृष्ट अभिलाषा हमारा अभीष्ट सुख जो हमें लगातार अपनी ओर आकर्षित करता है पर हमारा अपना कभी हो नहीं पाता ।

ऐसी स्थिति में आदमी ' एक भीड़' बन जाता है और संसार ' भीड़ की भीड़ ' यानि अराजकता और अनिश्चितता का एक ऐसा सघन अरण्य जिससे बाहर आ पाना नितान्त असम्भव प्रतीत होता है । यही हमारा हमसे 'वियोग' (हमारी जमीन से हमारी जड़ों का जुदा हो जाना) है ।

इस वियोग का एक मात्र सार्थक और सृजनशील विकल्प है योग जिसकी विभिन्न अभिव्यंजनाओं को इस इकाई में चर्चा का आधार बनाया जायेगा ।

36.3 योग का अर्थ

36.8.1 योग क्या नही है!

योग के वास्तविक मर्म को समझने से पूर्व उसके विषय में प्रचलित भ्रांतियों का निराकरण आवश्यक है । अतः पहले यह जानना जरूरी है कि योग क्या नहीं है । 'नहीं -नहीं ' के अनुशासन में बंधकर हम योग के वास्तविक रूप व अर्थ को ग्रहण करेंगे ।

सन् योग धर्म नहीं है योग धर्म नहीं है क्योंकि उसका प्रचलित धार्मिक धारणाओं या विश्वासों से कोई सरोकार नहीं है । योग हिन्दुओं की खोज है यह मात्र सांयोगिक है । इसका अर्थ यह नहीं कि केवल हिन्दू ही योगी हो सकते हैं । वे उतने ही योगी हो सकते हैं कोई मुसलमान, ईसाई, जैन अथवा बौद्ध ।

योग दर्शन नहीं है योग दर्शन नहीं है क्योंकि उसमें चिंतन-मनन, तर्क-वितर्क, खण्डन-मंडन आदि क्रियाएँ समाहित नहीं है । ये क्रियाएं तो दार्शनिक अनुशासन का हिस्सा हैं । योग न तो किसी दर्शन का खण्डन करता है न किसी दर्शन की स्वीकारोक्ति । इसके परिप्रेक्ष्य में कुछ सोचने-विचारने की कहीं कोई गुंजाइश ही नहीं है । यह तो एक साधना है जो सतत मानवीय चेष्टाओं और उसके परिष्कार का प्रतिफल है ।

योग चिकित्सा-शास्त्र नहीं है : योग की को उपचारात्मक प्रबन्ध प्रणाली नहीं है । इसलिए यह सोचना-कहना कि योग अमुक बीमारी को दूर कर देगा, सर्वथा गलत है । योग रूग्ण व्यक्तियों का पाथेय नहीं, स्वस्थ लोगों की जीवन-चर्या है ।

योग न तो आशावादी है और निराशावादी : आशा -निराशा तो मानव मन की स्थितियाँ हैं जिन्हें मन सतत सहेजे रहता है कुछ मिलने की सम्भावना दिखाई दे तो आशा की किरण नहीं तो सर्वत्र निराशा का घटाटोप अंधेरा । योग का इनसे भी कोई सरोकार नहीं । योग तो स्वयं मन का ही अतिक्रमण है ।

योग न तो आस्तिक है और न ही नास्तिक : योग ये दोनों भी नहीं है क्योंकि आस्तिकता-नास्तिकता का प्रश्न तो ईश्वर और उसकी सत्ता तथा उसकी स्वीकृति/अस्वीकृति से जुड़ा हुआ है। योग ईश्वरीय सत्ता के विषय में कुछ नहीं कहता। हाँ, ईश्वर को उसने परम सत्य तक पहुंचाने की एक विधि अवश्य माना है जो अनेक विधियों में से एक है।

36.3.2 योग क्या है?

योग शब्द संस्कृत भाषा के 'युज्' से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है-'जोतना' अथवा 'जोड़ना' । इस अर्थ में योग संयुक्त करने (जोड़ने) की एक विधि है । सवाल यह है कि किसे जोड़ता? किससे जोड़ना? किस उद्देश्य से प्रेरित होकर जोड़ना? यह 'योजन' साध्य है अथवा साधन? इन प्रश्नों पर भारतीय परम्परा में गहन मनन-चिन्तन हुआ है । योग के सन्दर्भ में सर्वाधिक मौलिक योगदान पतंजलि का है । पतंजलि ने योग सूत्र की रचना की । योग सूत्र के रूप में यौगिक प्रक्रिया को पतंजलि का योगदान अप्रतिम है । इसका कारण बताते हुए पी.टी. राजू का यह मत है कि पतंजलि ने सर्वप्रथम यह अनुभूति जगाई कि योग रूपी विधियों द्वारा किस प्रकार कोई साधना धर्मी व्यक्ति पदार्थ की दुनिया में लिप्त 'आत्म' को संसार से वापिस खींच सकता है और किस प्रकार वह पहले पदार्थ को उसकी मौलिक प्राकृतिक अवस्था में रूपान्तरित करके उसके द्वारा अपनी विशुद्ध प्रकृति को उपलब्ध कर पूर्ण स्वतन्त्रता का आनन्द व आह्नाद जुटा पाता है । अतएव योग आत्म-उपलब्धि की वे विधियाँ बनकर प्रकट होता है जो व्यक्ति को उसकी पूर्णता उपलब्ध कराती हैं । इन परिपूर्णताओं द्वारा आत्म 'सर्वात्म' बन जाता है, एक 'सब' हो जाता है, भाग 'पूर्ण' से जुड़ जाता है, बूंद 'सागर' बन जाती है पेड़ 'अरण्य' हो जाता है । इस सर्वात्म भाव से व्यक्ति और प्रकृति मे सहज सामंजस्य प्रकट होता है औप्र उससे वह सर्वात्म चेतना प्रकट होती है जो समूची प्रकृति की लीलाओं को सिद्ध व युक्त व्यक्ति (योगी) में प्रतिबिम्बित कराती है । घर का दिया प्रकाश का पर्याय हो जाता है और स्वयं योगी की दृष्टि 'सूरज' बन जाती है । यही योग है । पतंजलि के योगसूत्र इसी रूपान्तरण विधियों को सर्वप्रथम प्रकट व विवेचित करते हैं । कोई आश्चर्य नहीं कि योगसूत्र पर भाष्य व टीकाओं का अनवरत सिलसिला दिखाई देता है । चौथी शताब्दी में व्यास ने पतंजलि के योग सूत्र पर टीका लिखी । फिर नौवीं शताब्दी ईस्वी में वाचस्पति ने व्यास की टीका पर भाष्य लिखा । राजा भोज ने दसवीं शताब्दी ईस्वी में पतंजलि के योगसूत्र पर टीका लिखी । 15वीं शताब्दी ईस्वी के दौरान विज्ञानभिक्खु ने यही किया । बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ओशो रजनीश ने भी योग सूत्र पर विविध व्याख्यान व प्रश्नोत्तर समाहित किए जो "बुलाते हैं फिर तुम्हें पतंजलि योग सूत्र" शीर्षक से प्रकाशित हुए ।

पतंजलि के योग नियामक सूत्रों की एक बानगी प्रस्तुत करने से पूर्व उनकी सटीकता सारगर्भिता तथा मौलिकता के विषय में ओशो रजनीश के ये कथन अत्यन्त उल्लेखनीय हैं :

(i) "पतंजलि बुद्ध पुरुषों की दुनियां के आइन्सटीन हैं... पतंजलि सबसे बड़े वैज्ञानिक हैं अन्तर्जगत के । उनकी पहुँच एक वैज्ञानिक मन की है । वे कोई कवि नहीं है और इस ढंग से वे बहुत विरले हैं क्योंकि जो लोग अन्तर्जगत में प्रवेश करते हैं, वे प्राय: कवि ही होते हैं सदा । जो बहिर्जगत में प्रवेश करते हैं, प्राय: हमेशा वैज्ञानिक होते हैं ।"

(ii) "पतंजलि बुनियादी तौर पर वैज्ञानिक हैं, जो नियमों की भाषा में ही सोचते -विचारते हैं. यदि तुम पतंजलि का अनुगमन करो तो तुम पाओगे कि वे गणित के सूत्र जैसी ही सटीक बात करते हैं । तुम वैसा करो जैसे वे कहते हैं और परिणाम निकलेगा ही, ठीक दो और दो चार की तरह सुरक्षित । यह घटना उसी तरह निश्चित ढ़ंग से घटेगी जैसे पानी को सौ डिग्री तक गर्म करें तो (वह) वाष्प बनकर उड़ जाता है । किसी विश्वास की कोई जरूरत नहीं है । बस, तुम उसे करो और जानी । यह कुछ ऐसा है जिसे करके ही जाना जा सकता है ।"

(iii) "वे (पतंजलि) एक गणितज्ञ, एक तर्क शास्त्रज्ञ की भांति बात करते है और हैं वे हेराक्लतु जैसे रहस्यदर्शी.. वे बुद्धि से बातें करते हैं, पर उनका उद्देश्य, उनका लक्ष्य हृदय ही है । वे चाहते हैं कि तुम तर्क के द्वारा तर्क के पार चले जाओ ।"

पतंजलि विषयक उक्त प्रतिपादनों की सार्थकता उनके द्वारा प्रणीत योग - सूत्रों से भली- भांति प्रकट होती है। योग-प्रक्रिया उसकी व्यावहारिकता ,अपरिहार्यता तथा प्रासंगिकता आदि को समेटे ये योग-सूत्र किसी भी योगाभ्यासी के लिए विविध स्तरीय प्रकाश-स्तम्भ हैं । कुछ योग-सूत्रों पर ध्यान दें :

(i) 'अथ योगानुशासनम्' (अब योग का अनुशासन)

इस सूत्र में अथ (अब) प्राधानिक है । इसका अर्थ है एक ऐसी सुनिश्चित अवस्था जहां सब कुछ निराशा व व्यर्थता से घिर जाए, कहीं से भी आशा की कोई भी किरण अवतरित न हो सके, पूर्ण मोहभंग की स्थिति उपस्थित हो । यदि 'यह' नहीं तो योग का अनुशासन भी नहीं ।

अनुशासन क्या है? अनुशासन का निहितार्थ है सब तरफ से टूट कर अपने मूल केन्द्र में सिमटना । केन्द्रीकरण-प्रक्रिया को सतत नियमित करना । उस प्रक्रिया में एक ऐसी अन्तस्थ व्यवस्था निर्मित होती है जो ' एकजुट केन्द्र' (क्रिस्टलाइज्ड सेन्टर) की रचना करती है । इसी के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति ' होने की क्षमता, जानने की क्षमता, सीखने की क्षमता' (ओशो रजनीश) अर्जित करता है । अन्यथा वह नितान्त अव्यवस्थित ' भीड़नुमा' ही प्रकट होता है ।

(ii) योगश्चित्तवृत्ति निरोध : (योग मन की समाप्ति है)

योग का अनुशासन एक सुनिश्चित अवस्था में तब उपलब्ध होता है जब मन समाप्त हो जाता है । मन की समाप्ति से आशय है मन की अराजक वृत्तियों पर अंकुश और अंततः पूर्ण-विराम । मन शांत होगा तो शरीर भी अनुशासित हो जायेगा । गति से अलग शरीर और मन की समवेत स्थितियाँ व्यक्ति के ' अंतस केन्द्र' को प्रकट करने में सहायक होंगी ।

(iii) तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम् (तब साक्षी स्वयं में स्थापित हो जाता है)

जब योग का अनुशासन प्रभावी होता है और मन की समाप्ति हो जाती है तब व्यक्ति का उसके अंतस साक्षी से समाधान हो जाता है - अंतस साक्षी वह जो सिर्फ देखता है और केवल देखता ही रहता है । न वह कर्ता होता है और न विचारक । न उसकी वासनाएँ जोर मारती है (क्योंकि वासनाएं तो मन से उपजती हैं) और न ही मन की ऊर्जा (क्योंकि उसके सभी संवेग तो मन की समाप्ति के साथ ही चुक जाते हैं) । यह साक्षी भाव (सतत् देखने का भाव ही शुद्धतम अस्तित्व है । अपने से) यह जुड़ना, अपने को सही पहचानना ही योग है ।

(ii) वृत्तिसारूप्यमितरत्र (अन्य अवस्थाओं में मन की वृत्तियों के साथ तादात्म्य हो जाता है)

जहाँ मन का निरोध (समाप्ति) नहीं होता तो मन बना रहता है । जब मन बना रहता है तो व्यक्ति मनःस्थितियों से ही तादात्म्य बनाए रखने को विवश होता है । मन से प्रकट विचार-प्रवाह सतत चलते रहते हैं और व्यक्ति उनकी लहरों पर सदैव उठता-गिरता ही रहता है । सतत उठना- गिरना ही उसकी नियति बन जाती है और योग का विकल्प उपस्थित ही नहीं हो पाता । अत: योग अनिवार्य रूप से मन की समाप्ति है ।

इन चार सूत्रों में सावयिक एकता स्थापित है । एक को दूसरे से विरत देखा ही नहीं जा सकता । योगानुशासन की एक सुनिश्चित अवस्था होती है । फल जब तक पके नहीं या सूखे नहीं तो वह पेड़ से टपक नहीं सकता । योग भी ठीक उसी प्रकार समय-पूर्व नहीं घटित हो सकता । योग तब घटता है जब मन मर जाता है । केवल उसी स्थिति में भीतर की ' भीड़' छटती है और अंतस में व्याप्त अराजकता का साम्राज्य अस्त होता है । उसके बाद क्रमश: ' एकजुट केन्द्र' पूरे फोकस में आ पाता है । मन की समाप्ति और एकजुट केन्द्र के प्रकट होने पर साक्षी भाव उदित होता है- बिना वासना के सिर्फ देखना और लगातार देखते जाना । बिना 'मन' और 'मैं ' के जीवन जीना । सब कुछ करना लेकिन अहं और वासना की कलौंस लगाए बिना । गालिब इसी पर गौर करके यह लिख गए- " दुनियां में हूँ दुनियां का तलबगार नहीं हूँ । बाजार से गुजरा हूँ खरीददार नहीं हूँ । । "

यह है योग-पूरी शिद्धत से अपने शुद्धतम अस्तित्व से जुड़ाव और उससे उपजे सहज साक्षी भाव का आजीवन सतत विस्तार ।

36.4 योग की नियामक क्रियाएँ

योग की नियामक क्रियाएँ शारीरिक स्तर से प्रारम्भ होती हैं और वहाँ से शुरू होकर मन और मानसिकता का नियमन करती हैं । मन को रूपान्तरित करके वे क्रमश: मन का भी अतिक्रमण कर जाती हैं । अत: शरीर से मन और मन के साधन उपरान्त स्वयं मन का अतिक्रमण योग प्रक्रिया की अनिवार्य नियामक क्रियाएँ हैं । इस खण्ड में इन्हीं पक्षों पर संक्षिप्त चर्चा की जायेगी ।

36.4.1 स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर की चेतना

शरीर योग साधना का पहला सोपान है । अत: इसे जानना-समझना और तदुपरान्त उसे 'वश' में करना अपरिहार्य है । हमारे शरीर वस्तुत: दो हैं -स्थूल और सूक्ष्म । स्थूल शरीर पच तत्वों से बना हुआ हमारी इन्द्रियों तक व्याप्त हैं । हम उसे ऐन्द्रिक स्तर पर देख-भाल सकते हैं । प्राचीन काल के दौरान ही इस शरीर की रचना तथा प्रक्रिया पर प्राय: सभी समाजों में अत्यधिक मौलिक विमर्श तथा अनुसंधान उपलब्ध था । यह सर्वविदित है कि पंच तत्वों से निर्मित स्थूल शरीर की निर्मित अस्थि-पंजर,

मांस पेशियों, आतरंगों तथा बोध व क्रिया सम्बन्धी अन्य अंगों द्वारा होती है । यह हमारा भौतिक शरीर है ।

सूक्ष्म शरीर इन्द्रियातीत है, वह प्राय: अदृष्ट है । इस अदृष्ट मण्डल में अनेक ऐसी ज्यामितीय आकृतियाँ विद्यमान हैं जिनकी प्रतीकात्मक व यथार्थपरक महिमा है । योग की दृष्टि से सूक्ष्म शरीर अदृष्ट होते हुए भी ऊचतर महत्ता प्राप्त है क्योंकि यह तथ्यत : इन्द्रियातीत (इन्द्रियों से परे) है । हमारी यौगिक अन्तर यात्राओं का वाहक सूक्ष्म शरीर ही होता है ।

सूक्ष्म शरीर वह मॉडल है, वह संदर्भ -संरचना है जिस पर हमारा स्थूल शरीर आधारित है । वह हमारे शरीर का ब्लू प्रिन्ट है । अतएव, स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर की अनुकृति है । सूक्ष्म शरीर में वे गुण -लक्षण उपलब्ध हैं जो स्थूल शरीर में होते हैं बल्कि वहाँ तो उनकी वृहत्तर, सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्नता विद्यमान है । कहा तो यहाँ तक जाता है कि सूक्ष्म शरीर से प्रकट 'सूचनाओं ' व संकेतों से ही हमारे स्थूल शारीरिक अवयव क्रियाशील होते हैं ।

स्वयं सूक्ष्म शरीर व्यक्ति विशेष के लिए प्रासंगिक उच्चतर दैविक आयोजना का प्रतिबिम्ब है । अब संकेत -गृहों की एक पूरी श्रृंखला तैयार है-स्थूल, उससे ऊपर सूक्ष्म और सर्वोपरि दैविक विधान । ऊपर से संकेत सतत संचालित है । हर किसी के लिए । सूक्ष्म शरीर अपनी वैशेषिक क्षमताओं के अनुरूप उन्हें ग्रहण करते हैं और स्थूल शरीर को संचालित कर देते हैं । योग से व्यक्ति व ब्रह्माण्ड के बीच व्यास इस सांकेतिक प्रणाली को दुरुस्त किया जा सकता है, उसकी क्षमता का विस्तार किया जा सकता है बशर्ते स्थूल शरीर को पहले साधा जाए । प्राणायाम तथा आसन इसी दृष्टि से बड़े कारगर हैं ।

36.4. 2 आसन (योगासन) तथा प्राणायाम में दक्षता

आसन अथवा योगासन शारीरिक स्वास्थ्य तथा संयमित जीवनचर्या के लिए नितान्त आवश्यक हैं । आसनों का क्रम यम और नियम के उपरान्त प्रकट होता है । ये दोनों ही पतंजलि के योग सूत्र में वर्णित अष्टांग योग की प्रारम्भिक अवस्थाओं का सूत्रपात करते हैं । योगाभ्यासी को सर्वप्रथम यम और नियम के सयमकारी सांचों में ढाला जाता है जिससे वह परवर्ती योग क्रमों के लिए आवश्यक चेतना व अनुशासन अर्जित कर सके । गुरु से दीक्षा यम और नियम पर व्यवहार्यता अर्जित करने के बाद ही मिलती है । दीक्षा के अवसर पर गुरु अपने मानस-पुत्र (शिष्य) को उसकी नैसर्गिक क्षमता को पहचानते और उद्बोधित करते हुए एक नया नाम देता है, जैसे श्रीरामकृष्ण परमहंस ने नरेन्द्रनाथ को ' विवेकानंद ' नाम दिया अर्थात् वह " जो भेदा -भेद प्रक्रिया में आनन्दित होने " की क्षमता प्राप्त हो । उसी समय गुरु मंत्र भी कान में दिया जाता है जिसका दीक्षित व्यक्ति को नियमित जाप करना होता है । इस जाए से एकाग्र चिंततता बढ़ती है और सूक्ष्म बोध फलित होता है ।

विधिवत् दीक्षा के बाद शिष्य योग की तीसरी और चौथी अवस्थाओं ' अर्थात् योगासन और प्राणायाम का तत्काल अभ्यास प्रारम्भ करता है । यही कारण है कि इस चर्चा में इन दोनों को एक साथ स्थान दिया गया है । ये दोनों अभ्यास परस्पर पूरक है और अपने समवेत प्रभाव से शरीर और मन दोनों को रूपान्तरित करते हैं । प्रारम्भिक अवस्था में मन तक पहुँचने के लिए बाह्य शरीर का अनुशासन योगासन की परिधि निर्मित करता है जबकि शरीर को आदेश देने के लिए अन्तर्मन की निर्मलता प्राणायाम से संसाधित होती है । इस प्रकार ये दोनों प्रणालियाँ शरीर पर आधिपत्य का वह

सिलसिला शुरू करती हैं जिससे आगे बढ़ते हुए अन्तर्निहित सद्भाव की सम्भावनाएँ क्रमश योग-साधक अध्यायों में प्रकट होने लगती हैं ।

योगासन शरीर को स्थिर करने और एक विशिष्ट मुद्रा में उसे सुनिश्चित समय तक ढालने की व्यवहार्य प्रणाली है । पतंजलि योगासन में ' 'स्थिर-सुख' ' प्रतिपादित करते हैं । इसका यह अभिप्राय है कि आसन किसी भी स्थिति में कष्टदायक नहीं होने चाहिए क्योंकि ऐसी स्थिति में वे काल- साध्य नहीं हो सकते । यदि सुख पूर्वक दीर्घावधि के आधार पर उन्हें नहीं साधा जाए तो स्वयं योग साधना इस बाधिक कमी से बाधित हो जाती है ।

यद्यपि योगभ्यास में अनेक आसनों का आश्रय लिया जाता है परन्तु 'पद्मासन' अरि 'सिद्धासन' इनमें सर्वाधिक प्रयुक्त माने जाते हैं । पद्मासन में बायां पैर दाहिनी जांघ पर और दाहिना पैर बाईं जांघ पर इस प्रकार रखा जाता है कि दोनों पैरों की एडियां पेट का स्पर्श करें । दोनों जांघे और घुटने जमीन से लगे रहें, पीठ एकदम सीधी हो, ठोडी कण्ठ से लगी रहे और दृष्टि नाक के अग्रभाग पर केन्द्रित हो । स्वास्थ्य के अतिरिक्त जप और ध्यान क्रियाओं में यह आसन विशेष उपयोगी है । सिद्धासन अपेक्षाकृत अधिक श्रम व दक्षता की मांग करता है । यह सिद्ध पुरुषों का आसन है और इसके अभ्यास से सुषुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जागृत किया जाता है । इस आसन की मुद्रा धारण करने के क्रम में दोनों एडियों को पेट के निचले भाग पर जननेन्द्रिय से कुछ ऊपर कस कर रखा जाता है, यद्यपि शरीर अनिवार्यत: सीधा तना रहता है परन्तु सिर छाती के ऊपरी भाग पर टिका होता है । तथा दोनों हाथ जांघों का स्पर्श करते हैं और हाथों की उंगलियाँ ऊपर की ओर मुड़ी (कुंचित) अवस्था में होती हैं । इन दोनों आसनों को निम्न प्रस्तुत रेखाचित्रों दारा बेहत्तर समझा जा सकता है ।

चित्र संख्या 1

पदमासन तथा सिद्धासन की मानक मुद्राएं

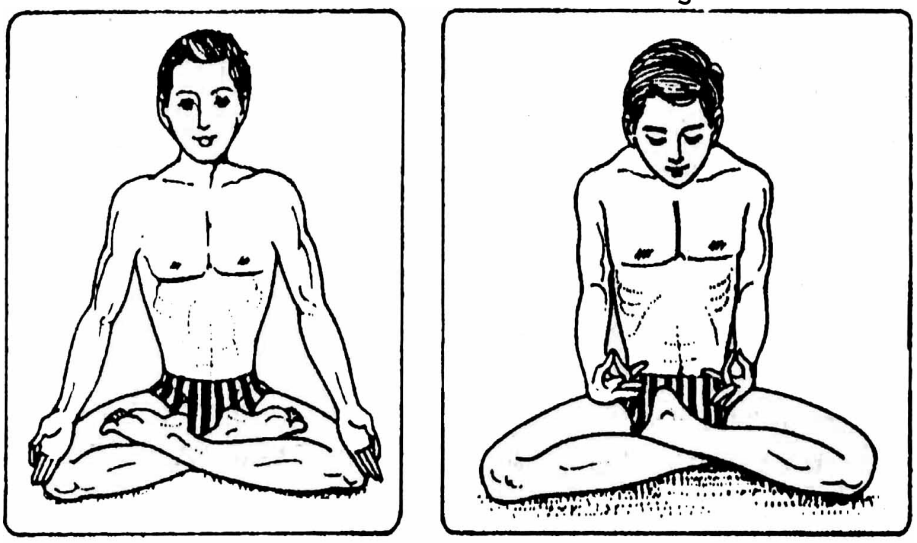

पद्मासन **सिद्धासन**

प्राणायाम प्राण-शक्ति को विशिष्ट आयाम एवं विस्तार देने की व्यवस्था है। योगमुद्रा में बैठकर एक सुनिश्चित -सुव्यवस्थित क्रम में श्वास लेने और छोड़ने और उस प्रक्रिया में प्रभावी श्वास नियंत्रण अर्जित करना प्राणायाम क्रिया अभीष्ट है । साँस अन्दर लेने की क्रिया पूरक भीतर रोक कर रखने की

क्रिया कुम्भक तथा उसे बाहर निकालने की क्रिया रेचक कहलाती है । इन तीनों क्रियाओं का अनुपात क्रमश: 1:4 : 2 होता है । उदाहरणार्थ यदि पूरक 15 की गिनती तक हो तो कुम्भक 60 तथा रेचक 30 तक होना चाहिए । दोनों नासिका-पुटों से क्रमश: यह क्रिया सम्पादित की जानी चाहिए ताकि चन्द्र व सूर्य स्वर समन्वित हो सकें, इड़ा और पिंगला नाडियां अधिक कार्यक्षम हो सकें और उनके बीच अवस्थित सुषुम्णा नाड़ी प्रभावी रूप से क्रियाशील हो । इन नाड़ियों का सुव्यवस्थित क्रियाकलाप इसलिए जरूरी है क्योंकि मानव शरीर में ये मूल प्राणवाहक नाड़ियाँ है जिनके द्वारा व्यक्ति (योगाभ्यासी) उत्तरोत्तर आत्म-विकास की स्थितियाँ मुखरित करता है । इड़ा व्यक्ति के विचारों का नियन्त्रण करती है जबकि पिंगला प्राण शक्ति की नियन्त्रक है । सुषुम्णा इड़ा-पिंगला के बीच संतुलन बनाए रखती है तथा इससे वह ज्ञान व प्रकाश विकिरित होता है जो आध्यात्मिक उन्नति के लिए अत्यावश्यक है ।

अष्टांग योग के पहले चार अंग मूलत: शारीरिक रूपान्तरण की विधियाँ हैं । अगले खण्ड में शरीरेत्तर योग- प्रकारों की क्रिया प्रणाली पर चर्चा होगी जिससे आप यह समझेंगे कि शरीर-साधन के उपरान्त मन-साधन और मन- अतिक्रमण अगले वे यौगिक चरण हैं जो चरितार्थ होकर अतत: समाधि तक योगाभ्यासी को पहुँचाने की क्षमता रखते हैं । हाँ, यह बात दीगर है कि उस ऊँचाई तक विरल ही पहुँच पाते हैं ।

36.5 योग की रूपान्तरण प्रक्रिया

'मन' से 'अ-मन' का गंतव्य शरीर-साधन और उसमें प्राणों की अभिनव स्फूर्ति और क्रियाशीलता किसी भी योग-साधक को अगली महत्तर विकास यात्रा के लिए अभिप्रेरित करती है । ये विकास-क्रम है मन की सघन परतों का उद्घाटन, उसकी उलझी गाँठों का समाधान, उससे सृजनात्मक संवाद और सुलह और फिर अंततः स्वयं मन का अतिक्रमण । ये सभी प्रक्रियाएं 'मन' से 'अ-मन' की ओर प्रयाण सुनिश्चित करती हैं ।

'मन' को इस प्रक्रिया में दमन से अक्रान्त नहीं किया जाता । ऐसा हो भी नहीं सकता क्योंकि मन का रक्षा-कवच तो नितान्त दुर्भेध है । उस पर जितना दबाव पड़ेगा वो उसी अनुपात में उछल कर और दुगने जोश से उपस्थित हो जायेगा । एक वासना का अप्राकृतिक दमन सैकडों अन्य वासनाओं को निमन्त्रण दे देगा । ओशो रजनीश इसीलिए बारम्बार यह आग्रह करते है कि "कुछ छोड़ो मत" उसे "छूटने " दो । छोड़ना संकल्पित और इस कारण अप्राकृतिक है जबकि छूटना प्राकृतिक और इसलिए सहज है । वासना से भागना नहीं बल्कि उनकी होशपूर्वक परितृप्ति आवश्यक है । बारम्बार परितृप्ति फिर उनकी ओर से विकर्षण पैदा करती है । क्योंकि होश या उसका आभास कुछ असफलताओं के बाद कभी तो प्रामाणिक संतुष्टि देगा अन्यथा वह निश्चित ही अनुपस्थित है । परितृप्ति के दौरान होश हमेशा स्वयं वासनाओं का भी तो आकलन करता है और उनकी व्यर्थताओं का भी बोध कराता है । वासनाओं की बारम्बार प्रकट व्यर्थता व्यक्ति को निर्वासना बना देती है । वासनाओं का ज्वार थमते ही मन क्रमश: मर जाता है क्योंकि उसके समस्त कारोबार की पूँजी तो अतृप्त वासनाएँ हैं और विनिमय मुद्रा मोह और आशक्ति । वासनाएँ जाएं, उनके साथ मन का कारोबार तबाह हो तो मन की सत्ता कब तक चल सकती है? 'मन' से 'अ-मन' की यही यात्रा योग साधना का निर्णायक मोड़ है । इस रूपान्तरण की प्रक्रिया और उपलब्ध स्तरों पर सावधानीपूर्वक एक-एक पैर जमाकर चलने की जरूरत होती है । पहले तो यह समझना जरूरी है कि मोह जाना है पसन्द बनी रहेगी क्योंकि मोह अंधा होता है जबकि पसंद

विविध विकल्प देती है जो कि दैनंदिन जीवनचर्या के लिए अपरिहार्य हैं । ओशो कहते हैं कि पसन्द से आनन्द चुकता नहीं, उसका रूप -आधार केवल बदल जाता है जबकि मोह- आच्छादित मन आनन्द लेने ही नहीं देता । पतंजलि योग सूत्रों पर विख्यात उनके प्रवचनों से बार-बार यह दृढ़ मंतव्य उद्घाटित होता है कि अभ्यास और वैराग्य से वासनाओं से क्रमिक मुक्ति और मोह का अवसान सम्भव हो पाता है । वैराग्य वांछनीय स्थितियाँ पैदा करता है जबकि अभ्यास से अंततः वास्तविक रूपान्तरण चरितार्थ होता है । निर्वासन या अ-मन की स्थिति तार्किक नहीं वह तो वस्तुतः प्रकट आचार का विषय है । आचार सतत अभ्यास द्वारा ही अपनी मिलावट खोते हुए शुद्ध से शुद्धतम होता जाता है ।

भारतीय योग-साहित्य में स्थितियों का निर्वाह अष्टांग योग की अगली चार अवस्थाओं में भली-भांति परिकल्पित है । आसन और प्राणायाम में उत्तरोत्तर प्रवृत्त और प्रवीण योग साधक इन को क्रमशः उपलब्ध होते रहते हैं । इस क्रम में पाँचवीं अवस्था प्रत्याहार की है । प्राणायाम के सतत अभ्यास से मन और इन्द्रिया शुद्ध हो जाती है। तदुपरान्त इन्द्रियों की बाह्य वृत्तियों को सब ओर से समेट कर उन्हें अन्तस्थ करना प्रत्याहार कहलाता है । इस स्थिति में इन्द्रिया चित्त में ' हो जाती हैं और परिशुद्ध चित्त से युक्त होकर वे योग साधक के अन्तर को अधिक कान्तिमय बना देती हैं । प्रत्याहार से इस प्रकार इन्द्रिय- विजय उपलब्ध होती है । योग साधना की छठी अवधारणा है । शरीर के भीतर अथवा बाहर (भीतर के चक्रों या बाह्य देवी-देवताओं, मूर्ति इत्यादि पर) चित्त को ठहराना धारणा है । धारणा के उपरान्त ध्यान प्रकट होता है जो धारित बिन्दु पर वृत्ति को सतत संचालित करता है और चित्त उस बिन्दु पर एकाकार हो जाता है । अंतिम अवस्था समाधि होती है । ध्यान की सतत प्रयुक्त स्थितियों के फलस्वरूप जब ध्यान केवल ध्येय मात्र की प्रतीत कराता है और जब चित्त का निज स्वरूप शून्य प्रायः प्रकट होता है तो वह स्थिति समाधि कहलाती है।

योग सम्बन्धी इस चर्चा की समाप्ति से पूर्व, मात्र बीज रूप में ही सही, कुण्डलिनी शक्ति और उसके प्रतिनिधि विविध चक्रों का उल्लेख आवश्यक है । प्राणायाम से प्रकट ऊर्जा को धारणा व विशेष रूप से ध्यान की ओर अभिकेन्द्रित करते हुए योग्साधक अपने आंतरांगो से परिचित होता है, सूक्ष्म शरीर की विविध ज्यामित्तीय आकृतियों का अवलोकन करता है और उन्हें सक्रिय बनाता है । कुण्डलिनी का जागरण ध्यान की पराकाष्ठा का परिणाम होता है । यह तब जागृत होती है जब साधक प्राणवायु को सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट कराता है और उसमें स्थित विविध चक्रों के प्रवर्तन का प्रयास करता है । प्रवर्तन का प्रारम्भ मूलाधार चक्र से होता जहाँ कुण्डलिनी लिपटी पड़ी होती है । प्राणवायु के प्रवेश से प्रथम चक्र में अग्नि प्रज्वलित होती है और उसकी लपटें सुषुप्त कुण्डलिनी को जड़ता भंग करती हैं । प्रथम चक्र के सक्रिय होने के उपरान्त वह सूक्ष्म शरीर के अन्य चक्रों को भी परिचालित करती है । इन चक्रों को क्रमशः (मूलाधार के बाद) स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा तथा सहस्त्रार के नामों से जाना जाता है । स्थूल शरीर के समवर्ती इन सूक्ष्म शरीरी चक्रों को निम्न प्रस्तुत रेखाकृति द्वारा भली-भांति समझा जा सकता है ।

चित्र संख्या 2

सूक्ष्म शरीर विविध चक्र तथा उनकी शारीर संचरना में अवस्थित

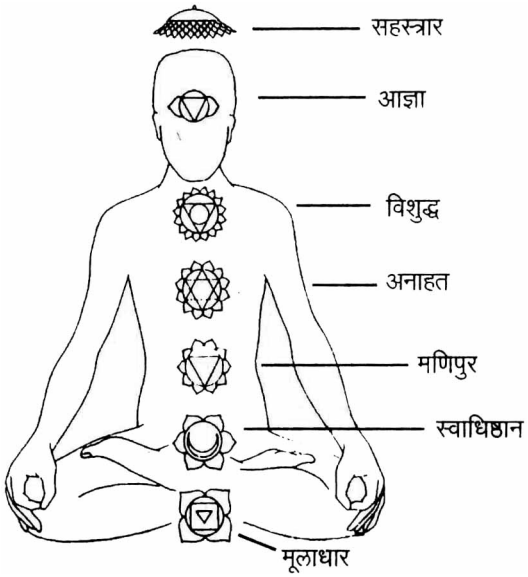

उक्त सात चक्रों की सक्रियता से सम्पन्न योग-साधक समाधि को उपलब्ध हो जाता है, सतत उपलब्ध रहता है परन्तु यह अवस्थिति अत्यन्त विरल होती है । आखिरकार बुद्ध, महावीर या जीसस अप्रतिम ही तो रहे हैं । क्यों कभी उनके 'डबल' की कोई चर्चा आपने सुनी?

इस खण्ड में 'अ-मन' के गंतव्य की बात की गई है । उस संदर्भ में एक अंतिम स्पष्टीकरण आवश्यक है। 'अ-मन' की स्थिति या मन के मरने का निहितार्थ यह नहीं है कि वह वास्तव में खत्म हो जाता है । या शब्दश: उसकी मौत हो जाती है । उसका अर्थ तो यह है कि मन से साधक का नियामक तादात्मय टूट जाता है और वह एक यंत्र की भांति विद्यमान रहता है । उस स्थिति मे साधक मन का सहज नियंता होता है, मन का उस पर कोइ जोर नहीं चलता ।

37.6 योग तथा भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति समग्र जीवन जीने की भावभूमि निर्मित करती है -एक ऐसा जीवन जिसमें "सर्वोच सद्भाव" के साथ व्यवहार्य अन्तनिर्भरता व पारस्परिक सहयोग का समावेश हो । जहाँ सभी अपने " समान प्रयत्नों की समान विरासत" से लाभान्वित हों । समग्र जीवन विरोधाभासों के अवरोध सहज पार कर लेता है, उनमें निहित सार-तत्व आत्मसात करता है और इस प्रक्रिया में जीवन एक अविरल प्रवाहित धारा के रूप में प्रकट होता है । सांस्कृतिक चेतना से यौगिक अस्तित्व मुखरित होता है । उससे समग्र को संसाधित करने की समझ और मूल्य- संस्कार आदि पनपते हैं । भारतीय संस्कृति इस व्यापक एकताकारी भाव में न तो कभी जातीय रही और न विशुद्ध राष्ट्रीय ही । वह तो विश्वव्यापी अस्तित्व को समर्पित रही है और उस दिशा में उसने अपना महती योगदान भी दिया । जीवन चेतना से चलता है और चेतना समग्र को आत्मसात करके ही चेतनशील होती है । अत: भारतीय संस्कृतिक योग मूलक है । विविध मानव स्थितियों व भावों को युक्त करके समृद्ध यथार्थ की सृष्टि और परिचालन उसका वैशैषिक भाव है ।

सांस्कृतिक समग्रता व उससे फलित यौगिक अस्तित्व विखण्डित चेतना के सहारे चल ही नहीं सकता । भारतीय जीवन में योगी इसलिए पूजनीय हैं क्योंकि वे समग्र से समग्र को साधते हैं । अपने मूल अस्तित्व -कारण से युक्त चेतना धर्मी योग साधक ही भारतीय संस्कृति के पुरोधा होते आए हैं । एक बुद्ध की चेतना युग चेतना तो होती ही है, वह उससे भी ज्यादा बढ़कर सार्वत्रिक चेतना बन जाती है । एक ली से दूसरी ली और इस तरह असंख्य प्रकाश-पुंज । "आत्म दीप" बनकर ही अस्तित्व के तिमिर को दूर किया जा सकता है । आत्म-साक्षात्कार से ही विराट सांस्कृतिक सत्य प्रकट होता है और आत्म-उपलब्धि समग्र व्यक्तियों की ही धरोहर हो सकती है । बिना कटे- टूटे लोग ही समग्र जीवन जीते हुए संस्कृति के व्यापक परिवेश को समृद्ध कर सकते हैं ।

भारतीय जीवन-दर्शन का सबसे प्रामाणिक स्त्रोत है श्रीमद्भागवत गीता । इसमें "योग-संगम" चरितार्थ हुआ है । योग के सभी मूल प्रकास्ज्ञान योग, भक्ति योग तथा कर्म योग इसमें समन्वित हैं । यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि सांस्कृतिक चेतना तथा युग- धर्म के यथा आवश्यक परिष्कार के लिए भारतीय जन सदा गीता की धारा में पुण्य-स्नान करते आए हैं । युग-युगीन चेतना का बारम्बार पुनर्नवीनीकरण इसी ग्रन्थ से होता आया है और आज भी हो रहा है । अत: योग भारतीय मनीषा तथा स्वयं विराट सांस्कृतिक चेतना के प्रवाह के लिए एक अनिवार्य सृजनात्मक साधन है ।

36.7 सारांश (समसामयिक जीवन- क्रम और योग साधना) :

समसामयिक जीवन-क्रम, जैसा कि प्रस्तावना में इंगित किया गया 'वियोग ' से ग्रस्त है और दु:ख की पैदावार बढाने में सतत प्रयत्नशील भी । वह दु:ख पैदा करता है और सुख की आस लगाए रहता है । आज के जीवन में अनेक विभाजक रेखाएँ और कटाव बरकरार हैं - धर्म, राजनीति, युद्ध शोषण, दमन इत्यादि । सांस्कृतिक समझ और उससे उत्पन्न समग्र चेतना विलुप्त प्राय: है । हर व्यक्ति सब ओर से कटा हुआ एक 'द्वीप' है और 'अपने-अपने अजनबी' सर्वत्र व्याप्त हैं ।

वियोग का एकमात्र सार्थक विकल्प है योग और उसकी सतत साधना । योग व्यक्ति को पहले अपने से जोड़ता है और फिर परिपूर्ण 'आत्म' सर्वात्म बन जाता है । इस इकाई में योग के विविध चर्चित प्रसंग इसी सत्य को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं । उनका अभिप्राय इस कथन से परिपुष्ट होता है

"जिस प्रकार एक साफ कटा हीरा अनेक पक्षों (पहलुओं) से सुसम्पन्न होता है और प्रत्येक पक्ष प्रकाश के भिन्न रंग आवर्तित करता है ठीक उसी प्रकार योग भी क्रियाशील है उसका प्रत्येक पक्ष एक पृथक अर्थ-भेद और रंगत उजागर करता है ।...(उससे) मानव साघना के विभिन्न पक्षों का प्रकाशन होता है ताकि अन्तर्शान्ति और सुख उद्घाटित हो सके ।" (बी. के. एस. आयंगर, लाइट ऑन योग पृ. 20-स्वतन्त्र अनुवाद) ।

36.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए :

1. योग आज क्यों आवश्यक है? स्पष्ट कीजिए ।
2. योग क्या नहीं है और क्या है? चर्चा कीजिए ।

3. स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर से क्या अभिप्राय: है? स्पष्ट कीजिए ।
4. कुण्डलिनी क्या है? वह किन-किन चक्रों से ऊपर प्रवाहित होती है? चर्चा कीजिए ।
5. 'अ-मन'' की स्थिति से क्या अभिप्राय है? विवेचना कीजिए ।

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिए-

1. इस इकाई में प्रस्तुत पतंजलि के कोई भी तीन सूत्रों की व्याख्या कीजिए ।
2. अष्टांग योग क्या है? इनमें प्राणायम व आसनों की क्या उपयोगिता है? स्पष्ट कीजिए ।
3. 'योग की रूपान्तरण प्रक्रिया' पर एक टिप्पणी लिखिए ।
4. योग की भारतीय संस्कृति के संदर्भ में क्या उपयोगिता है? समसामयिक संदर्भ में क्या उपयोगिता है? विवेचना कीजिए।

36.9 प्रासांगिक पठनीय ग्रन्थ

1. पी. टी. राजू : स्ट्रक्चरल डेप्थ्स ऑफ इंडियन थॉट (नई दिल्ली, सैप, 1985, विशेषत: योग विषयक अध्याय IX)
2. बी. के. एस आयंगर : लाइट ऑन योग (लंदन, अनविन पे. बै., 1989 रिप्रिन्ट, विशेषत: 'प्रस्तावना', पृ. सं. 1953)
3. ओशो रजनीश : बुलाते हैं फिर तुम्हें पतंजलि योगसूत्र (खण्ड 1 व 2), (पूना, रिबेल पब्लिशिंग हाउस, 1989)
4. कल्याण का ''योगतवांक : (गोरखपुर, गीता प्रेस, 19)
5. हरिकृष्ण दास गोयन्का : योग-दर्शन (गोरखपुर गीता प्रेस सं. 2053)
6. ज्या वैरेनि : योग एण्ड दी हिन्दू ट्रैडिशन (अनुवादक डेरेक कोल्टमेन), दिल्ली, 1989